Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दस तसवीरें

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दस

तसवीरें

जगदीशचंद्र माथुर

राजकमल प्रकाशन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

क्रम

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

आज का हिंदी पाठक मुझे प्रायः नाटककार के नाम से ही जानता है। गले पड़ी ढोलकी बजावे जोगी—नाटक और रंगमंच का भूत कुछ इस तरह मुझ पर सवार रहा है कि उससे निस्तार पाना असंभव है।

किंतु मेरे साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश वस्तुतः जीवनचरितों के लेखन से हुआ। १४ वर्ष की आयु में (सन् १९३० के आस-पास) मैंने अपनी पहली पुस्तक लिखी—'हेनरी फ़ोर्ड का जीवनचरित'। उन दिनों प्रयाग के हिंदी प्रेसवाले जीवनचरितों की एक चवन्नी सिरीज़ प्रकाशित करते थे। लिखने का चाव पैदा हो गया था और उस पिल्ले की तरह, जिसके दांत उगते समय उसे हर चीज़ पर उन्हें आज़माने की तबीयत करती है, मैं भी अपनी नवोदित लेखनी की खुजलाहट यत्र-तत्र निबंध लिखकर दूर करता था। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और फ्रांस की जोन ऑफ़ आर्क के ऊपर चरितनिबंध लिखने के बाद, हेनरी फ़ोर्ड का जीवन-चरित एक पूरी पुस्तिका के रूप में लिख डाला। अदम्य उत्साह था उन दिनों, किशोरावस्था की प्रतिभा पर ज़ोम था, हर तरह की गद्य-शैली का अनुकरण करने की क्षमता भी थी। अब ऐसी हिमाकत करने की हिम्मत नहीं कर सकता।

हिंदी-प्रेसवालों को पांडुलिपि मिली। उन्हें क्या मालूम था कि लेखक १४ वर्ष का किशोर है! रचना उनकी सिरीज़ से मेल खाती थी। मुझे पत्र मिला—"महोदय, आपकी पुस्तक किशोरों और युवकों के लिए उपादेय है। हम उसे अपनी सिरीज़ में प्रकाशित करेंगे।" फूला न समाया। सहपाठी यक़ीन ही न करते थे। लेकिन कुछ दिनों बाद मनीआर्डर मिला—चालीस रुपये का, जिसमें से आधी रक़म मैंने अपने सहपाठी श्री लालचंद शर्मा 'पराग' को दी, क्योंकि व्यास के लिए गणेश की भाँति उन्होंने मेरी रचना की प्रतिलिपि तैयार की थी।

लेकिन कहानी का अंत इतना सुखदायी नहीं रहा। उसी वर्ष शायद आर्थिक क्षति के कारण हिंदी प्रेस को अपनी सिरीज़ का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह स्थगन अभी तक ज़ारी है। पता नहीं, मेरी पांडुलिपि कहाँ है ! किंतु हिंदी प्रस-वालों ने अनजाने ही जिस तरह मुझे लेखकों की पांत में ला बिठाया, उसका उल्लेख करते मुझे आज विशेष हर्ष है—आज, जब मैं अपने चरितलखों का प्रथम संग्रह हिंदी पाठकों के सामने उपस्थित कर रहा हूं। इन चरितलेखों के बीज शायद हेनरी फ़ोर्ड के जीवनचरित की रचना के समय ही पड़े थे।

चरितलेख—इस शब्द की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहता हूं। कुछ लोगों को शायद यह भ्रम हो कि ये निबंध 'संस्मरण' हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जब इनमें से कुछ लेख प्रकाशित हुए, तो इसी ग़लतफ़हमी में हलकी-फुलकी रचनाएं समझकर कुछ चंचल-चित्त पाठकों ने इन्हें पढ़ना शुरू किया। फल के ऊपरी गूदे को तो चाव से खा गए, किंतु जहां गुठली के ठोस तत्त्व पर दांत लगे, कतराने लगे।

संस्मरणों के हलकेपन को हेय नहीं मानता मैं। असल में आधुनिक पत्र-कारिता की अमूल्य देन हैं संस्मरण। मेरे ये लेख—प्राय: सभी—संस्मरण के-से वातावरण से प्रारंभ होते हैं। 'आलाप' मैंने संस्मरणों की तरह ही उठाए हैं, किंतु उसके बाद रागिनी के विस्तार, तान, मुकरियां, बोलतान—इन सब अलंकारों और गहराइयों के लिए संस्मरण का वाहन अनुपयुक्त पाया मैंने। चरितलेख ललित और गंभीर साहित्य का अंग है, संस्मरण उत्कृष्ट पत्रकारिता की एक वैयक्तिक और मनोरंजक विधा है।

भारतीय साहित्य में चरितलेखों की परंपरा का ज़िक्र यहां नहीं करूंगा, यद्यपि 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' अमूल्य निधि है हिंदी के चरित-साहित्य की। मेरे ऊपर प्रभाव पड़ा यूरोपीय साहित्य के चरितकारों का। जिन दिनों हेनरी फ़ोर्ड की जीवनी लिखी, उसके एक वर्ष बाद एक विवाद-प्रतियोगिता में पारि-तोषिक स्वरूप मुझे ए० जी० गार्डिनर की पुस्तक 'प्रोफ़ेट्स, प्रीस्ट्स एंड प्रिंसेस' मिली। आद्योपांत पढ़ गया और उसके बाद गार्डिनर की अन्य रचनाओं के साथ-साथ, लिटन स्ट्रेची, आंद्रे मारवा, लुदविग, प्रीस्ट्ले इत्यादि के लिखे चरित-निबंध पढ़ और संपूर्ण जीवनियां भी। दो विशेषताएं मैंने इन रचनाओं में पाईं। चरित-नायक के जीवन की घटनाओं का चुनाव और उनका गुंफन इस भांति किया जाता है कि लगभग सारी जीवन-कथा का दिग्दर्शन होने पर भी पाठक को इतिवृत्ता-त्मकता का अनुभव नहीं होता। घटनाक्रम सन् के सिलसिले से नहीं किया जाता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, बल्कि चरितनायक के व्यक्तित्व-विकास और उसके विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से। पाठक को जीवन-क्रम नहीं, जीवन-कथानक पढ़ने को मिलता है, और जैसे हर कथानक के प्रस्तुतीकरण में नाटकीय तत्त्वों का ध्यान रखना होता है, ऐसे ही इन रचनाओं में भी जीवन-कथा का विकास और चरमोत्कर्ष, भावनाओं की कशिश और ढील, रसों का उद्रेक और परिणति—इन सभी का कम या अधिक मात्रा में समावेश होता है।

दूसरी विशेषता है कथा के उद्घाटन के साथ-साथ नायक की अंतर्छवि का विश्लेषण। विश्लेषण, मात्र वर्णन नहीं। हिंदी में स्तुति-वंदना की परंपरा बड़ी प्रबल है। मजाल क्या कि धूप और छांह दोनों का विवेचन हो! लेखक यदि ऐसा करे, तो उस पर लांछनाओं की भरमार हो जाए। किंतु आधुनिक यूरोपीय चरितकार आरती नहीं उतारता। वह तो 'पोर्ट्रेट' यानी सबीह खींचता है; वह 'बायग्राफ़िकल स्टडी' यानी व्यक्ति-विवेचन करता है। टिप्पणी, सिद्धांत-विचार, गहन विश्लेषण—ये ही कला की वे बारीकियां हैं, जिनसे 'पोर्ट्रेट' में गहराई आती है और चरितनायक का उजलापन और "कालिमाएं, जिनके कारण हर मानव एक निराला जीव है" (यूनीकनेस ऑफ़ एवरी मैन) सुस्पष्ट होती हैं।

हिंदी भाषा में 'पोर्ट्रेट' के लिए कोई उपयुक्त पर्याय नहीं है। उर्दू में 'सबीह' चालू है और मध्ययुगीन हिंदी कवियों ने कहीं-कहीं इस शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन 'पेन-पोर्ट्रेट' यानी व्यक्ति-चित्रलेख के लिए शायद उर्दू में भी सबीह शब्द का व्यवहार नहीं होता। इसीलिए मैंने चरितलेख की संज्ञा दी है, क्योंकि संस्मरण इन लेखों के लिए उतना ही अधूरा है, जितना 'रेखाचित्र'।

यूरोप के जिन चरितकारों की ओर मैं आकृष्ट हुआ, उनकी रचनाओं से अपने इन निबंधों की तुलना करने का दुस्साहस मैं नहीं करूंगा। एक तो मेरे मूल संस्कार हिंदी लेखन-शैली के ही हैं, और दूसरे ये निबंध वैसी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार नहीं लिखे गए, जिसके फलस्वरूप उपयुक्त मात्राओं में उन सभी तत्त्वों का समावेश हो पाता, जिन्हें मैं चरितलेखों के लिए आवश्यक मानता हूं।

फिर भी ये लेख हिंदी में एक अभाव की थोड़ी-बहुत पूर्ति करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मुझे समाज के विभिन्न वर्गों को क़रीब से देखने का प्रायः अवसर मिलता रहा है। इसलिए मैंने हिंदी कवियों और लेखकों के विषय में न लिखकर समाज के व्यापक अंगों में कुछ ऐसे लोगों के चित्र लिये हैं, जिनका व्यक्तित्व अपने-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने क्षेत्र में सार्थक रहा है। प्रोफ़ेसर और मास्टर, कवि और संगीतज्ञ, अभिनेता और पुरातत्त्ववेत्ता, राजनीतिज्ञ और प्रशासक—इन सबकी जीवनकथाओं में समाज के विविध रूप प्रतिबिंबित हैं। जान-बूझकर मैंने उन्हीं व्यक्तियों की कथाएं लिखी हैं, जो अब हम लोगों के बीच में नहीं हैं। इसलिए आवश्यकतानुसार बिना झिझक के मैं चरितनायकों की कमज़ोरियों की ओर भी संकेत कर सका हूं। असल में इन कथाओं के सहज प्रवाह के उद्गम में काफ़ी तैयारियां हैं। अकसर मुझे ग्रंथ एवं अन्य सामग्री पढ़नी पड़ी है और कुछ अनुसंधान भी करना पड़ा है।

मेरा उद्देश्य महापुरुषों की गाथाएं गाना नहीं है। इन लेखों के नायक इतिहास के पृष्ठों में अमर रहें या नहीं, पर उनके जीवन में मानव-जाति का अस्तित्व सार्थक होकर मुखरित हुआ था—इसमें कोई संदेह नहीं।

इसीलिए इन लेखों की गद्य-शैली प्रायः काव्य के स्तर पर विचरती है। मैं ललित-गद्य को काव्य का अंग मानता हूं। जो गद्य रुचिकर हो, अलंकार-संपन्न हो और रसानुभूति कराए; वह काव्य की कोटि में भी आता है और जानकारी बढ़ाने के उद्देश्य को भी पूरा करता है। ललित-गद्य की हिंदी में अभिवृद्धि होनी चाहिए—इसमें कोई संदेह नहीं। पिछले दिनों हिंदी-गद्य की प्रेषणीयता बढ़ी है, किंतु सज्जा में न्यूनता आई जान पड़ती है। इन लेखों की रूप-सज्जा हृदयग्राही और अनुरंजक है, ऐसा कम-से-कम मेरे मित्रों का कहना है।

मुझे भी इन रचनाओं के शिल्प, सौष्ठव और मनोहारिता पर उतना ही गौरव है, जितना किसी कारीगर को अपनी श्रम-साध्य कलाकृति पर होता है।

नई दिल्ली
३० मई, १९६२

—जगदीशचंद्र माथुर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन-निर्माता अध्यापक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
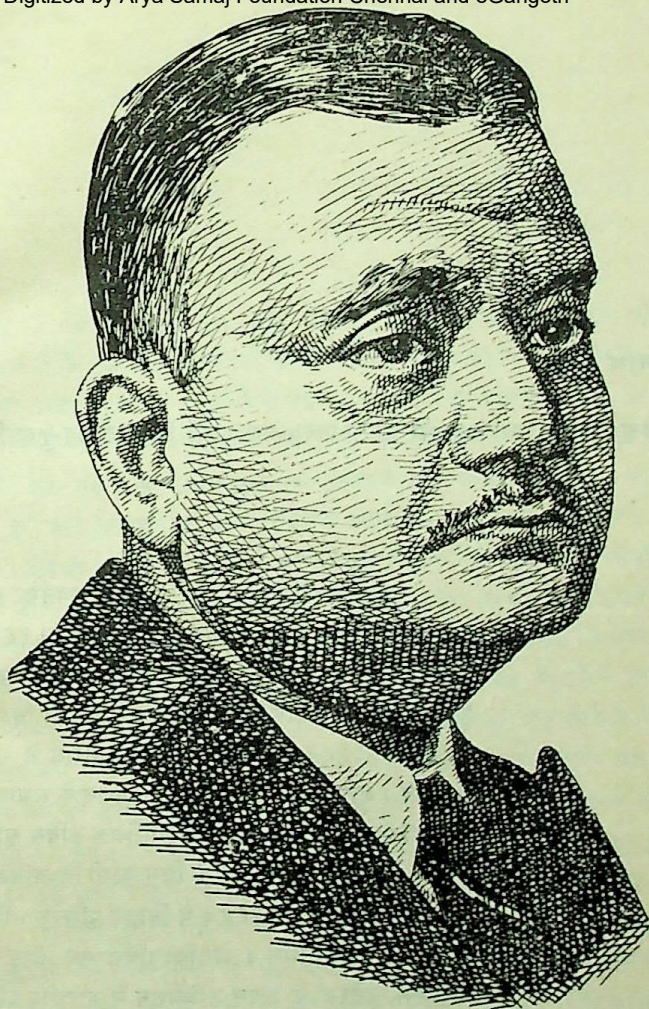
अमरनाथ झा

(अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक और प्रयाग विश्वविद्यालय के विख्यात उप-कुलपति)

जन्म : २५ फ़रवरी, १८९७। शिक्षा गवर्नमेंट हाई स्कूल, प्रयाग और म्योर कॉलेज, इलाहाबाद में। १९१७ में म्योर कॉलेज में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक नियुक्त हुए। १९३० में प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष। १९३९ में प्रयाग विश्वविद्यालय के उप-कुलपति। अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन के सभापति (१९४१)। १९४८ में उत्तरप्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन। कुछ समय के लिए काशी विश्वविद्यालय के उप-कुलपति। १९५३ में बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन। अंतर्विश्वविद्यालय बोर्ड के चेयरमैन, यूनेस्को के प्रथम अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य, अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति, भारतीय प्रौढ़ शिक्षा परिषद के सभापति। रचनाएं : शेक्सपीरियन कॉमेडी, विचारधारा इत्यादि।

मृत्यु : १९५५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् '३८ में एक दिन हम लोग प्रयाग विश्वविद्यालय के फ्राइडे क्लब की मीटिंग में बैठे हुए थे। उन दिनों छात्रों में फ्राइडे क्लब का सदस्य होना एक खासा रुतबा माना जाता था। इने-गिने सदस्यों की यह मंडली हर शुक्रवार को अंग्रेज़ी विभाग के एक कमरे में बैठती। चाय और खाना-पीना होता, कुछ साहित्यिक चर्चा, कुछ चुहल, मगर सब-कुछ एक सुसंस्कृत और संयत स्तर पर। चार-पांच चुने हुए और अध्ययनरत छात्र ही उसके सदस्य थे, बाकी सब साहित्य के अध्यापक। अंग्रेज़ी का बोलबाला था। अकसर हम लोग निबंध पढ़ते, कभी-कभी नाटक खेले जाते, डिनर होते। लकिन शायद क्लब की सबसे अधिक उपयोगिता यह थी कि सामाजिक स्तर पर अध्यापकों के साथ मेल-जोल होता, उनके विनोदपूर्ण और सांस्कृतिक चेतना से भरपूर संवाद और वाक्द्वंद्व सुनने को मिलते। सामाजिक शिष्टाचार (ख़ास तौर से महिलाओं की मौजूदगी में) का पाठ सोदाहरण सीखा जाता और बातचीत तथा व्यवहार में आत्मविश्वास आप-ही-आप आ जाता। इसीलिए जो लोग उसके सदस्य नहीं थे, वे फ्राइडे क्लब को स्नॉब क्लब कहते—यानी उन बने-ठने लोगों की मंडली, जो अपने को दूसरों से ऊँचा समझते हैं। झा-साहब इस क्लब के सर्वेसर्वा थे और शायद ही किसी मीटिंग से नागा करते हों।

उस दिन अंग्रेज़ी विभाग के एक अध्यापक ने कहा, "आज मुझे बी० ए० के छात्रों की मौखिक परीक्षा में एक अत्यंत मेधावी छात्र देखने को मिला। सही उत्तर तो उसने दिए ही, साथ ही साहित्य की भीतरी प्रेरणाओं और अभिव्यंजना की समस्याओं पर उसकी बातें मौलिक और गहराई लिये जान पड़ी थीं।"

"कौन था वह लड़का?" मैंने पूछा।

"प्रेमचंद का पुत्र अमृतराय! शायद तुम्हारे ही होस्टल में तो रहता है?"

"जी हाँ, मैं जानता हूँ।"

लेकिन हम लोगों ने देखा कि झासाहब चुप थे। और उस मौन के साथ उनके

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेहरे पर आवेश की लहर-सी आई, जिसे निश्शब्द बादलों के बीच पल-भर के लिए कौंधती बिजली की तरह हममें से कुछ ही देख पाए।

अध्यापक महोदय झासाहब के क़रीब-क़रीब हमउम्र थे, उनके यद्यपि अधीनस्थ ही थे। बोले, "तुम्हारा क्या खयाल है, अमरनाथ ?"

"मेरा खयाल ?" थोड़ी देर को रुके। हम लोगों ने भी मानो साँस रोकी। क्या कहेंगे ? उस निर्विकार आकृति पर क्षणिक ही सही, लेकिन ऐसी सावेश भंगिमा तो कभी देखी नहीं। सो क्यों ?

फिर बोले—नपे-तुले शब्द, पर मानो प्रत्येक शब्द के पीछे विस्फोट का आग्रह हो, "मेरा खयाल है कि अगर कोई मेधावी छात्र—खास तौर से साहित्य का अध्येता, मेरे विभाग में पढ़ता है, मेरे ही होस्टल में रहता है, लेकिन एक बार भी मुझसे नहीं मिलता, तो निश्चय ही उसमें कोई भारी दोष है।"

सन्नाटा छा गया।

हम लोगों ने सोचा, ऐसी दर्पभरी, लेकिन हलके स्तर की बात झासाहब को शोभा नहीं देती। क्या यह उनके बड़प्पन के प्रतिकूल न थी ?

हम लोग ग़लती पर थे।···क्यों ?

दूसरी घटना ! मेरे मित्र और सहपाठी पी० डी० टंडन, जो आजकल इलाहाबाद के लोकप्रिय और सुविख्यात पत्रकार और उत्तरप्रदेश विधान-परिषद के सदस्य हैं, छात्रों में निराले समझे जाते थे। कहीं संघर्ष हो, टंडन सबसे आगे ! सत्ता के आगे माथा टेका नहीं। झंडा फहराने के सवाल पर कई बार अड़े और जीते। झड़प के लिए हमेशा आमादा। अद्‌भुत जीव, जिनके व्यक्तित्व के आकर्षक पहलू को मुझ-जैसे दो-चार अंतरंग बंधुओं को छोड़कर कोई नहीं जानता था।

झासाहब के बारे में टंडन की पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि यह सत्ता के उपासक, घमंडी और 'शानियल' व्यक्ति हैं। इसलिए टंडन उनसे मिलना तो दरकिनार, झासाहब की कटु आलोचना में अग्रसर रहते, मेरे भी सामने, हालाँकि जानते थे कि मैं झासाहब का स्नेह-पात्र था।

एक दिन टंडन और हम लोगों के एक और मित्र, श्यामाचरण काला (आजकल टाइम्स ऑफ़ इंडिया के न्यूज़ एडिटर) म्योर होस्टल की सड़क पर टहलते जा रहे थे। सामने से अन्य दो-तीन अध्यापकों के साथ झासाहब आते नज़र पड़े। टंडन और काला ने अपना-अपना सीना ताना और बराबर से निकल गए, मानो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई क्षिप्रा नदी तटवर्ती खंडहरों की उपेक्षा करते हुए बहती जाए।

झासाहब रुके। बुलाया और बोले, "क्या तुम मुझे पहचानते नहीं? क्यों इस तरह कतराकर निकल गए?" स्वर में तेज़ी थी और आक्रोश।

टंडन को मुंहमांगी मुराद मिली। दोनों ने खुलेआम खूब खरी-खोटी सुनाई। इतने बड़े आदमी और अभ्यर्थना की भिक्षा माँगते हैं? इत्यादि-इत्यादि।

टंडन ग़लती पर थे। टंडन को बाद में— बहुत बाद में—इसका अहसास हुआ।...कैसे?

तीसरी घटना! सन १९३९ की बात है। मैं तब तक एम० ए० पास करके इलाहाबाद से दिल्ली आ गया था, सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए तैयारी करने। किंतु नवंबर के महीने में इलाहाबाद पहुँचा, दीक्षांत समारोह में शामिल होकर अपनी डिग्री और पदक लेने। झासाहब के पास गया—-मिलने और एक परिचय-पत्र लेने। झासाहब के पुराने छात्र रघुवंशलाल गुप्त दिल्ली में एक ऊंचे पद पर आसीन थे और मैंने सोचा, झासाहब के ज़रिए उनसे परिचय मिलने पर उनके अनुभव से लाभ उठा सकूंगा। देखा, झासाहब चिंतित थे। बातचीत हुई। फिर उन्होंने परिचय-पत्र लिखना शुरू किया। शेक्सपियर के बारे में कहा जाता है कि वह लिखने के बाद एक अक्षर भी नहीं काटते थे, इतनी ढली-ढलाई और परिपक्व अवस्था में उनके विचार और कल्पना शब्दों का रूप लेते थे; कई बरसों तक हम लोगों ने झासाहब की लिखावट देखी—मोती-से समाकार अक्षर, कहीं काट-छाँट नहीं. कहीं घसीट के आसार नहीं। लिखते समय न जल्दबाज़ी होती और न बेकार रोकथाम, जैसे कोई निरायास समतल भूमि पर चलता हो। सुबद्ध तथा सुव्यवस्थित विचार और सुघड़ तथा नयनाभिराम लिखावट—इन दोनों का अद्भुत सामंजस्य कोई दैवी संयोग-मात्र नहीं था, वरन् झासाहब के उस संयत व्यक्तित्व का द्योतक था, जिसे उन्होंने बरसों की साधना और अभ्यास द्वारा प्राप्त किया था।

लेकिन उस दिन उस छोटे-से परिचय-पत्र के लिखते समय तीन-चार स्थलों पर उन्होंने अपनी लिखावट को काटा, मानो चंद्रिका को राहु की छाया ने ग्रसा हो। और जब मैंने पत्र देखा, तो मैं और भी अचंभित हो गया, "यह पत्र तो आपने रतनकुमार नेहरू के नाम लिख दिया। मैं तो रघुवंशलाल गुप्त के नाम पत्र चाहता था।"

झासाहब ने क़लम उठाकर रख दी और थोड़ी देर के लिए हथेलियों से अपने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेहरे को ढक लिया।

एक आतंक-सा मेरे ऊपर छा गया। शायद उनके अंतरंग बंधुओं ने भी उन्हें वैसी अवस्था में न देखा होगा। झासाहब—जिनकी लेखनी कागज़ पर वर्ण नहीं मणियाँ जड़ती है, जिनकी वाणी ताज़े ढले हुए सिक्के की तरह नपे-तुले शब्दों में मुखरित होती है, वही झासाहब विचारशृङ्खला और शब्द-चयन पर इतना भी नियंत्रण न कर सके? बात क्या थी?

थोड़ी देर बाद वह बोले, "जानते हो जगदीश, पिछली दो रात मुझे पल-भर को नींद नहीं आई। शायद ही कभी जीवन में अपने को इतना आहत पाया हो मैंने।"

और तब उन्होंने उस परिस्थिति का ब्योरेवार वर्णन किया, जिसका थोड़ा-सा आभास मुझे समाचार-पत्रों में मिल चुका था। जिस दिन दीक्षांत समारोह होना था, उसी दिन संयोगवश विश्वविद्यालय के भवन पर कांग्रेसी झंडे के फहराए जाने की वार्षिकी थी। छात्रों ने कहा कि उस दिन कांग्रेस का झंडा ज़रूर फहराएंगे। सूबे के गवर्नर सर हैरी हेग विश्वविद्यालय के चांसलर की हैसियत से आनेवाले थे। उन्होंने सुना, तो झासाहब को लिख भेजा कि अगर कांग्रेसी झंडा सीनेट हाउस पर फहराता रहा, तो वह दीक्षांत समारोह में नहीं आ सकेंगे। झासाहब को विश्वास था कि छात्र उनकी बात मान लेंगे। लेकिन छात्र राज़ी न हुए। उन्होंने तरह-तरह के सुझाव रखे। यहां तक कि जवाहरलालजी ने भी कहा कि अगर दीक्षांत समारोह सूर्यास्त के बाद हो, तो झंडा उतारा जा सकता है, क्योंकि सामान्य विधि यही है कि झंडा सूर्योदय से सूर्यास्त तक फहराए। इस मसविदे पर झासाहब राज़ी हो गए और उन्हें उम्मीद हुई कि गवर्नर भी राज़ी हो जाएंगे। लेकिन छात्र टस-से-मस न हुए। न तो झासाहब के आदेश कारगर हुए, न उनकी स्नेहपूर्ण झिड़की और न उनकी बारंबार विनती।

दीक्षांत समारोह बिना गवर्नर के हुआ। उस बार न किसी आमंत्रित सज्जन का भाषण हुआ और न कोई अन्य प्रकार की व्यवस्था।

अधिकारी वर्ग को अकसर इस तरह की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। कभी उन्हें मुंह की खानी पड़ती है, कभी उनकी बन आती है। परंतु झासाहब आहत हुए मर्मस्थली पर।···क्यों?

ये तीनों घटनाएं—अमृतराय के प्रति हठात आक्रोश, पी० डी० टंडन और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काला की वयःसंधि-सूचक हरकत पर उत्तेजना और छात्रों की ज़िद से मर्माहत होना—तीनों ही में झासाहब की महत्ता अंतर्हित थी।

जी हां, महता ! ऊपरी तौर से इन तीनों परिस्थितियों में झासाहब का व्यवहार हलका जान पड़ेगा, लेकिन असलियत दूसरी ही है।

झासाहब अध्यापक थे—ऐसे गुरु, जिनका सारा व्यक्तित्व, भव्यता और महिमा का वह विशाल प्रासाद—एक ही बुनियाद पर टिका था, अपने छात्रों के साथ उनका संबंध। अगर उस बुनियाद पर ही आघात होता, तो मानो वह समूचा महल ही हिल उठता, और हम लोग जो उस महल की बुलंदी और स्थायित्व के अभ्यस्त थे, अचरज में पड़ जाते। झासाहब की ज़िंदगी अपने छात्रों के संपर्क से ही प्राणवान थी। उसीमें उनकी शक्ति थी, उसीमें उनकी सज-धज, उसीमें उनका समूचा अस्तित्व। दैनिक अध्यापन, प्रशासन और सामाजिक व्यवहार के असंख्य परतों के नीचे एक नाज़ुक-सी, नन्ही-सी मधुरिमा थी, ऐसी ही, जैसे लोक-कथाओं में किसी राजकुमार की जान, दूर किसी अनजाने द्वीप में मोटी दीवारों, गहरी खाइयों और अडिग लौह द्वारों के भीतर पिंजरे में बंद, एक रंग-बिरंगी चिड़िया के रूप में बसती है। उस चिड़िया के परों में कोई सूई चुभो दे अथवा उसकी टाँग को मरोड़ दे, तो तुरंत राजकुमार पीड़ा से बेचैन हो जाता है। छात्र अमृतराय ने उदासीन रहकर, छात्र टंडन ने उपेक्षा करके और सन '३९ के आंदोलनकारी छात्रों ने उनकी बात की अवहेलना करके उनके अंतर्तम के कोर में चिरजागृत, चिरसजग, प्राणसंचारिणी, किंतु अत्यंत सुकोमल उसी मधुरिमा को कुरेद दिया था, निर्दयता से झकझोर दिया था। उन्हें क्या मालूम था कि किन नाज़ुक रगों पर निर्मम आघात उन्होंने किया है ?

और झासाहब भी इस भीतरी टीस को कदापि जाहिर नहीं करते। उलटे अपने व्यवहार में कुछ ऐसा दर्प, कुछ ऐसी शुष्कता और चुनौती ले आते कि उन्हें सहानुभूति मिलना तो दूर, ग़लतफ़हमी का शिकार होना पड़ता। ऐसी ग़लत-फ़हमी का निराकरण करना उनकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल था। सहानुभूति की याचना उन्होंने कभी की नहीं। अपने छात्रों से उन्होंने सहानुभूति नहीं मांगी, लोकप्रियता नहीं मांगी, नेतृत्व नहीं मांगा। एक ही गुरुदक्षिणा थी, जिसे वह अपना अधिकार मानते थे—शिष्य उनके प्रति आदर और प्रतिष्ठा का व्यवहार करें।

कुछ ऐसा प्रभाव था उनके व्यक्तित्व का कि जिस शिष्य ने एक बार उनके प्रति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समादर का व्यवहार बरतना शुरू किया, वह आजीवन उसी भाव से उन्हें देखता रहा। सुप्रीम कोर्ट के एक जज, जो महज़ एक साल के लिए सन '२० या '२१ में उनके छात्र रहे (सप्ताह में दो या तीन घंटे उनकी कक्षा होती), तीस वर्ष बाद तक झासाहब को पत्र लिखते, तो 'आदरणीय महोदय' से उन्हें संबोधित करते। एक बार जिसने शिष्यत्व अंगीकार किया, वह चाहे कितना ही बड़ा आदमी हो जाए, झासाहब की उपस्थिति में अपने बड़प्पन को नहीं जता पाता। स्पष्ट था कि झासाहब की इस 'सत्ता' और 'प्रभुत्व' का आधार ऐसा कोई अधिकार न था, जो किसी अफ़सर को अपने मातहतों के ऊपर होता है। विश्वविद्यालय में भले ही छोटी-मोटी बातों में वह कुछ मेहरबानियां दिखा देते, लेकिन उन्हें अधिकार का प्रदर्शन नहीं कहा जा सकता और न विश्वविद्यालय की चहारदीवारी के बाहर इन कृपाकणों का कोई विशेष महत्त्व ही था। तो क्या झासाहब की विद्वत्ता और उनके पांडित्य का दबदबा किशोर वयस्क छात्र-छात्राओं पर छाया हुआ था? झासाहब निस्संदेह अपने ज़माने के अत्यंत प्रतिभाशाली अध्यापकों में से थे। जब उन्होंने बी० ए० पास किया, तभी अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य पर उनका अधिकार देखकर तत्कालीन अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर ने उन्हें म्योर कॉलेज में ही ट्यूटर रख लिया था। अंग्रेज़ी लिखने की उनकी शैली बड़ी टकसाली थी और साहित्यिक विषयों और व्यक्तियों पर उनके विचार सुथरे और सुस्पष्ट थे। संस्कृत का ज्ञान पैतृक संपत्ति था, हिंदी-साहित्य की गतिविधि से पूर्णतया परिचित थे और हिंदी के निर्भीक समर्थक एवं पोषक होते हुए भी उर्दू शायरी और अदब में खासी पहुंच रखते थे। (हिंदी-उर्दू विवाद की जिन दिनों बड़ी हलचल थी और झासाहब हिंदी साहित्य-सम्मेलन के स्तंभों में से एक थे, उन्हीं दिनों 'लीडर' पत्र में झासाहब ने उर्दू शायरों के विषय में विश्लेषणात्मक लेखमाला प्रकाशित कर अपनी व्यापक दृष्टि और साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया।) शेक्सपियर के सुखांत नाटकों का अपने प्रारंभिक जीवन में उन्होंने विशेष अध्ययन किया था और इस विषय पर उनका एक निबंध-संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। हम लोग यह सब जानते थे। फिर भी सन '३५ के आसपास इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कई ऐसे अध्यापक थे, जिनके पांडित्य की भारतवर्ष क्या, विदेशों तक में धाक थी। डॉ० मेघनाद साहा, प्रोफ़ेसर रानडे, डॉ० वेणीप्रसाद, डॉ० ताराचंद इत्यादि उस समय के उद्भट विद्वान माने जाते थे और अपने-अपने क्षेत्रों में उनकी ख्याति डॉ० अमरनाथ झा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अंग्रेज़ी साहित्य के क्षेत्र में ख्याति से कहीं अधिक थी। मेधावी होते हुए भी डॉ० झा उतना समय अनुसंधान एवं गहन अध्ययन को नहीं दे पाते थे, जितना अपेक्षणीय था। इसलिए यद्यपि उनके लेक्चर अंग्रेज़ी साहित्य के सामान्य अध्येता का पथ प्रशस्त कर देते थे, तथापि मर्मजिज्ञासु को प्रेरित करने के लिए यथेष्ट नहीं होते। स्नातक (अंडरग्रेजुएट) वर्ग के छात्रों को उनके ट्यूटोरियलों से विशेष लाभ होता, क्योंकि वह मुस्तैदी के साथ भाषा-संबंधी त्रुटियां बताते और स्पष्ट एवं छितरी विचारधाराओं को नियंत्रित करते। लेकिन स्नातकोत्तर छात्रों के लिए जिस गहन एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन-निर्देशन की आवश्यकता थी, उसके लिए अवकाश उन्हें न मिल पाता। इसीलिए पांडित्य के बल पर उन्होंने अपने शिष्यों में समादर और प्रतिष्ठा का अर्घ्य पाया हो—ऐसा सोचना ग़लत होगा।

तब फिर क्यों इतनी प्रतिष्ठा उन्हें मिलती रही? न तो सरकारी अधिकारियों की-सी भाग्य-निपटारे की सामर्थ्य उनके पास थी, न उद्‌भट पांडित्य का वज़न, न छात्रों के बीच लड़कपन के व्यवहार और क़हक़हेबाजी के आधार पर लोकप्रिय होने की प्रवृत्ति!

उनकी शक्ति थी—उनका बड़प्पन! बड़प्पन कैसा? कहते हैं कुछ बृहद् वृक्षों की जड़ें धरती के भीतर उतनी ही दूर-दूर तक जाती हैं, जितनी उनकी शाखाएं वायुमंडल में फैलती हैं और इसी तरह उनका बृहदाकार संतुलित रहता है। शायद झासाहब के बड़प्पन की अदृश्य बुनियादें बरसों के अभ्यास, प्रयास और संयम की गहराइयों में फैली हुई थीं। बड़प्पन कोई अस्त्र नहीं है, जिसे बाहर से पाया जा सके; न वह कोई पोशाक है, जो अवसरानुसार पहनी और उतारी जा सके। वह तो आंतरिक व्यक्तित्व की ऐसी अभिव्यक्ति है, जो व्यवहार और वचन में सर्वदा एक ही प्रकार से लक्षित होती रहती है। झासाहब ने इस बड़प्पन का अभ्यास किया था; स्वेच्छा से, परिश्रम से, अनुशासन से उसे अपनाया था। वही बड़प्पन उनके आचरण का अभिन्न अंग बन गया। सच्चे मानी में झासाहब 'गुरु' थे—गुरु, यानी गरिमा—बड़प्पन—जिसका स्वाभाविक लक्षण हो। 'गुरु' शब्द की यह व्याख्या उनके व्यवहार में स्वभावतः चरितार्थ होती थी। शिष्य इस गुरुत्व से उनसे निकट संपर्क होते ही अभिभूत हो जाते। और किसी तरह की प्रतिक्रिया संभव ही न होती।

किशोरावस्था में छात्रों पर अकसर छोटी-छोटी बातों का गहरा और स्थायी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असर पड़ता है। बड़प्पन, जिसकी वे प्रतिष्ठा और समादर करते हों, यदि कभी आत्मीयता के छोटे-छोटे संकेत दे दे, तब उसका प्रभाव द्विगुणित हो जाता है, जैसे हिमालय की विशाल चट्टानों पर दो-चार नन्हे कुसुमों की मुस्कान मन को हर लेती है।

उन दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय के म्योर होस्टल में भरती होना किसी भी छात्र के लिए सौभाग्य की बात समझी जाती थी। झासाहब उस होस्टल के वार्डन थे और बाद में उपकुलपति हो जाने पर भी उन्होंने वार्डन का छोटा पद नहीं छोड़ा। अनेक आवेदन-पत्र आते; कुछ ही को इंटरव्यू में बुलाया जाता। इंटरव्यू खुद झासाहब करते। अजब रोब आवेदकों पर छाया रहता। यों यह सर्वविदित था कि फ़र्स्ट डिविज़न पानेवाले छात्र, अच्छे खिलाड़ी, पुराने छात्रों के पुत्र—ऐसे आवेदकों को प्रायः ले लिया जाता था। फिर भी इंटरव्यू ऐसे ही विधिवत् होता, जैसा नौकरी के लिए। (शायद उसी क्षण से व्यवहारकुशलता और आत्मविश्वास की वह ट्रेनिंग शुरू हो जाती, जिसके फलस्वरूप म्योर होस्टल के छात्र उच्च सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगिताओं में प्रायः सफल हो जाते थे।) जो भी हो, अच्छे-से-अच्छे छात्र को म्योर होस्टल की 'प्रवेश-परीक्षा' में पास हो जाने पर गौरव का अनुभव होता। क्यों ऐसा होता, इस रहस्य को उस समय विश्वविद्यालय के अन्य होस्टलों के अधिकारीगण भी नहीं समझ पाते थे। मेरे एक सहपाठी म्योर होस्टल में भरती न हो सके और कायस्थ पाठशाला होस्टल में प्रवेश पाने के लिए वहां के अध्यक्ष, प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० ताराचंद के पास गये। कुछ झुंझलाहट के साथ डॉ० ताराचंद ने मेरे मित्र से पूछा, "आखिर म्योर होस्टल में ऐसा क्या है, जो तुम वहाँ की देहली से सिर टकराने गये थे? क्या उसकी ईंटों और दीवारों में कोई करामात है?"

ईंटें और दीवारें म्योर होस्टल की घटिया ही मानी जाएंगी, कमरे छोटे, फर्नीचर इत्यादि भी मामूली; अन्य कई होस्टलों के भवन कहीं अधिक भव्य और आकर्षक थे। लेकिन करामात दूसरी ही थी। कमरा मिल गया और मैं चार-पांच दिन में अपनी सब व्यवस्था करने के बाद दैनिक कार्यक्रम को संवारने लगा। एक दिन होस्टल के चपरासी ने एक लिफ़ाफ़ा दिया। झासाहब की कमनीय लिखावट में एक निमंत्रण था: फलाने रोज़ अपराह्न में मेरे घर चाय पर आओ। इतने बड़े सम्मान की कल्पना भी न की थी। विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष होस्टल के वार्डन झासाहब स्वयं अपने घर पर एक नए अंडरग्रेजुएट को आमंत्रित

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

RPS
097
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Central Library
165563
Gurukul Kangri University Haridwar
ARY-D

कर रहे हैं और उसी तरह पत्र लिखकर, जैसे उनके बराबर का कोई संभ्रांत व्यक्ति हो। (यह याद दिला दूं कि जिन दिनों का यह ज़िक्र है, उन दिनों ज़्यादा-तर अंडरग्रेजुएट चाय-मंडलियों, रेस्तरां और सिनेमा इत्यादि के इतने अभ्यस्त न थे, जितने आजकल के किशोर हाईस्कूलों में ही हो जाते हैं। इतनी सुविधाएं भी न थीं, और शायद सामाजिक जीवन का वातावरण भी भिन्न था।) निश्चित तिथि और समय पर साफ़-सुथरे कपड़े पहनकर जब झासाहब की बैठक में पहुंचा, तो यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि उस दिन आमंत्रित छात्रों की संख्या केवल चार या पांच थी। एक साथ तीस-चालीस लड़कों को बुलाकर औपचारिक रूप से परिचय की रस्म अदा करना उनका लक्ष्य नहीं था। चार या पांच लड़कों ही को एक शाम के लिए बुलाया जाता। शिष्टाचार का सबक भी मिला, स्नेह का आभास भी; हम लोग उनके निकट भी आए, लेकिन बड़प्पन की दूरी भी रही।

कुछ दिनों बाद देखा कि होस्टल के बरामदों में घूमते हुए झासाहब कमरे में आये। कुरसी पर बैठे और पूछताछ करने लगे। यह स्नेह-स्पर्श नए छात्रों के हृदय को गद्‌गद् कर देता। किसी दिन आदेश मिला, झासाहब के साथ सिनेमा देखने जाना है। हम दो या तीन लड़के जब सिनेमा देखकर लौटे, तो उनकी मोटर से उतरते और उन्हें सधन्यवाद नमस्कार करते समय जान पड़ा जैसे कोई पिता अपने बच्चों की मंशा पूरी करने पर संतोष का अनुभव करता हो, कुछ वैसा ही भाव उनके चेहरे पर था। मैं सन '३७ की बी० ए० परीक्षा में बैठने से कुछ दिन पहले कुछ ऐसा पस्तहिम्मत हो गया कि इरादा करने लगा कि परीक्षा में बैठूंगा ही नहीं। बिस्तर बांधकर घर लौटने की तैयारी में था। झासाहब का आदेश मिला—जिस दिन परीक्षा होनेवाली थी, उसी दिन सबेरे ६ बजे अपने घर बुलाया, ताकि अपने साथ मोटर में मुझे परीक्षा-भवन ले जा सकें। मुझे अपनी कायरता मालूम हुई और मैंने अपना इरादा बदल दिया। कौन ऐसा शिष्य था उनका, जिसकी व्यक्तिगत समस्याओं को वह जानते न थे? जब सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठ रहा था, तो अर्थाभाव के कारण मैंने सोचा कि 'लीडर' पत्र के साहित्यिक पेज के संपादन-विभाग में काम करने लगूं। कुछ मित्रों के कहने से 'लीडर' पत्र के संपादक चिंता-मणिजी ने स्वीकृति भी दे दी। झासाहब से पूछा गया तो बोले, "नहीं। अगर अर्थाभाव हो तो मुझसे कहो, लेकिन सिविल सर्विस की परीक्षा में एकाग्र चित्त होकर लगो।"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म्योर होस्टल का तो हरेक छात्र समझता कि वह एक विशाल बरगद के कल्याणकर आश्रय में है। अंधड़-तूफ़ान हो या घोर तपन, वे समर्थ हाथ उसकी रक्षा करेंगे। यह नहीं कि उनके यहां कोई सदावर्त खुला हुआ था, या कि दानी-प्रवृत्ति के धनीमानी सज्जन की तरह उन्हें निर्धन छात्रों की सहायता करने में सुख मिलता हो। शिष्यों के साथ झासाहब एक उदारहृदय दानी सेठ का-सा व्यवहार नहीं करते थे, बल्कि एक स्नेह-सिक्त, करुणार्द्र, हितचिंतक पिता का-सा। म्योर होस्टल के न जाने कितने छात्रों की व्यक्तिगत समस्याओं, उनके निजी रहस्यों को वह जानते थे और मन में संजोकर रखे हुए थे। सलाह दें या चुप रहें, पर हमारी चिंताओं, हमारी आकांक्षाओं, हमारी समस्याओं के 'बैंक' थे झासाहब—ऐसा बैंक, जो किसी तरह का कमीशन नहीं काटता, केवल पितृयोग्य बड़प्पन के प्रति समादर-प्रदर्शन की अपेक्षा करता है। यही कौटुंबिक वातावरण म्योर होस्टल की विशेषता थी, जिसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्य योग्य और विद्वान अध्यापक समझ नहीं पाते थे, लेकिन जो एक रेज़िडेंशियल (आवासीय) यूनिवर्सिटी का प्राण होना चाहिए।

शिष्यों के साथ स्नेह-संबंध की यह गांठ जीवन-भर के नाते की बुनियाद बन जाती। इस मामले में झासाहब अद्वितीय थे। सैकड़ों छात्र उनके निकट संपर्क में आये होंगे। लेकिन विश्वविद्यालय छोड़ने के कई वर्ष बाद मिलने पर भी उनके किसी भी पुराने छात्र को अपना पुनः परिचय देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, देखते ही झट से छात्र को उसके नाम से संबोधित करते और कोई ऐसी पूछताछ करते, जिससे उसे जान पड़ता कि वह किसी निकट-संबंधी से बातें कर रहा हो। इस विषय में अद्‌भुत स्मरणशक्ति थी झासाहब की, परंतु उस स्मरणशक्ति को प्रेरित करनेवाली चीज़ थी वह गहरी और सच्ची दिलचस्पी, जो वह अपने पुराने छात्रों की जीवन-प्रगति में हमेशा रखते। अखबार में किसी कारणवश नाम देखा या कहीं तरक्क़ी की बात सुनी, तो फ़ौरन चिट्ठी लिख भेजते। पुराने छात्र की लिखी कोई पुस्तक सामने आई, तो शाबासी का पत्र आ जाता। विवाह इत्यादि का निमंत्रण-पत्र मिलते ही अपने आशीर्वाद भेजते। मसूरी में उनके अनेक पुराने छात्र उन्हें मिल जाते; चाय पर अवश्य बुलाया जाता। ऐसी मुलाक़ातें उनके पुराने छात्रों के लिए कोरा सामाजिक शिष्टाचार नहीं होती थीं; उनमें कुछ ऐसे ही आह्लाद का अनुभव होता, जैसे अपने परिवार के पुराने फ़ोटोग्राफ़ों के एलबम को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते हुए होता है। देखते-ही-देखते हमारे बाद के जीवन और पद तथा उम्र की सीढ़ियां ग़ायब हो जातीं और हमें लगता कि पहले ही की तरह अपने गुरु के सामने बैठे हैं; लिहाज़ और इज़्ज़त की पाबंदियां आप-ही-आप हम पर हावी हो जातीं।

पाबंदियों के वह क़ायल थे। म्योर होस्टल को उन दिनों अकसर 'सिसी' होस्टल कहा जाता, जिसका तात्पर्य यह था कि वहाँ के लड़के न सिर्फ़ नाज़ुक-से हैं, बल्कि किसी भी तरह की हलचल और मारधाड़ से अलग रहते हैं। नज़ाकत का आरोप ग़लत था, क्योंकि लगभग हर छात्रावास में कुछ-न-कुछ ऐसे छात्र तो थे ही जिन्हें छुईमुई कहा जा सकता। म्योर होस्टल खेल-कूद में अकसर आगे रहता। झासाहब खेल-कूद में सिद्धहस्त छात्रों को हमेशा प्रोत्साहित करते। अरसे तक हमारे होस्टल के ही हॉल में विश्वविद्यालय की 'क्रासकंटरी रेस' की शील्ड रही। किंतु मारधाड़ से अलग रहने की बात बिलकुल सही थी। दूसरे होस्टलों में 'इंट्रोडक्शन नाइट' और रैगिंग होते, यानी नए छात्रों के साथ छेड़-छाड़, जो अकसर बेहूदा हरकतों का रूप ले लेते थे। लेकिन म्योर होस्टल में (कम-से-कम उन दिनों) स्वयं झासाहब की मौजूदगी में नए छात्रों का सबके सामने परिचय कराया जाता और गाने इत्यादि का प्रबंध होता। होली पर अन्य छात्रावासों में अगर अनियमित हुड़दंग होता, तो म्योर होस्टल में शिष्ट उत्सव। अन्य होस्टलों में बाथरूम की दीवारों में अश्लील लिखावटें साधारण बात थी। एक बार शायद हमारे बाथरूमों में भी इस तरह की कुरुचि के चिह्न दीख पड़े। झासाहब के कानों में भनक पहुंची। होस्टल के हॉल में उन्होंने एक मीटिंग बुलाई और एक संक्षिप्त और प्रताड़नापूर्ण भाषण दिया। एक वाक्य मुझे अब तक याद है—"आई कैन नॉट ओनली बार्क बट आल्सो बाइट (यह न समझो कि मैं कोरी बकवास करता हूं, मैं चोट भी कर सकता हूं।"—धमकी थी, लेकिन इतना हम लोगों को उस धमकी ने प्रभावित नहीं किया, जितना उस छोटी-समस्या को हल करने के उनके तरीके ने। बोले, "मैं होस्टल के कर्मचारियों से बाथरूमों की दीवारों को साफ़ करा सकता हूं, लेकिन मैं ऐसा नहीं करूंगा। तुम लोगों को इसका प्रायश्चित्त स्वयं करना है।" हम लोगों की एक कमेटी ने दीवारों पर सफ़ेदी कराई और उसका खर्चा बरदाश्त किया। उसके बाद फिर कभी ऐसी हरकत नहीं देखी गई।

क्या यह भीरुता की निशानी थी? शायद आजकल की शिक्षा-संस्थाओं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अपने वार्डन के आदेश का इस तरह से पालन करना कायरता मानी जाएगी। लेकिन मैं समझता हूं कि झासाहब से भयभीत होकर ही अनुशासन की पाबंदियों को अगर माना जाता, तो म्योर होस्टल की तसवीर दूसरी ही होती। भय था, लेकिन किसी दंड के भागी होने का नहीं, बल्कि म्योर होस्टल की उस सर्वमान्य परंपरा के उल्लंघन करने का, जिसका हम लोगों को गौरव था और जिसको झासाहब ने बरसों के निर्देशन द्वारा प्रतिष्ठित किया था। क्या थी वह परंपरा? पठन और परीक्षाओं में लगन एवं उत्कृष्ट परिणाम, किसी-न-किसी प्रकार के खेल-कूद अथवा सांस्कृतिक कार्यक्रम में उपलब्धि, पोशाक और स्वरूप में सुथरापन एवं दीप्ति (जिसे अंग्रेज़ी में 'स्मार्ट' कहा जाता है) तथा विश्वविद्यालय के नियमों और अनुशासन के अनुकूल आचरण। हम सब लोग इन संस्कारों को पा सके हों, यह बात नहीं। यह भी सही है कि हममें से कुछ लोग इन संस्कारों की उपलब्धि को प्रतिभावानों के योग्य आदर्श नहीं मानते थे और वामपक्षीय विचारों के प्रथम प्रभात में इन चीज़ों को 'बूर्जुआ' मूल्यों की संज्ञा देते। किंतु म्योर होस्टल का वातावरण इन संस्कारों से संपृक्त था। झासाहब यह उम्मीद करते थे कि उनका हरेक छात्र म्योर होस्टल की परंपरा की छाप लिये हुए जाए, जिससे बाद के जीवन में भी अपने व्यवहार से चीन्हा जा सके।

असल में इस तरह की छाप वह चाहते थे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अधिक-से-अधिक छात्रों में। यद्यपि झासाहब विश्वविद्यालय के उपकुलपति सन् '३८ में ही बने थे, तथापि उससे कई वर्ष पहले से वह प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रतीक-से समझे जाने लगे थे। जहां झासाहब होते, वहीं मानो प्रयाग विश्वविद्यालय का झंडा-सा गढ़ जाता। साल में एकाध बार जब कभी वह दिल्ली, मसूरी, कलकत्ता आते, प्रयाग के पुराने छात्रों की मजलिस अवश्य जुड़ती; ऐसे ही पटना में, बंबई, बनारस एवं भारतवर्ष के अन्य नगरों में भी। यहां तक कि सन् '४६ के बाद जब उनका विश्वविद्यालय से कोई विशेष संबंध नहीं रहा था, तब भी इलाहाबाद के बाहर उन्हीं के नाम पर इलाहाबाद के पुराने छात्र जमा होते, मानो किसी राजा की मृत्यु हो जाने पर भी अरसे तक उसके इक़बाल के कारण उसी का सिक्का चलता रहा हो। एक व्यक्ति इतनी बड़ी संस्था का इस तरह से प्रतीक माना जाने लगे, यह मार्के की बात थी।

यही प्रतिष्ठा झासाहब की समस्त आकांक्षाओं का केंद्र थी, जिस तक पहुं-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चने के लिए उन्होंने बड़ी-से-बड़ी बाज़ी लगा दी और ग़लतफ़हमियों के शिकार हुए। ४१ या ४२ बरस की उम्र में उपकुलपति चुने गए, लेकिन उसके दस बरस पहले से ही उन्होंने अपने अंतरंग मित्रों के बीच घोषणा कर दी थी कि उन्हें शीघ्र ही उपकुलपति बनना है। इच्छाशक्ति प्रबल थी। जिस तरह से अनुसंधान करनेवाला विद्वान् अपने थीसिस की योजना बनाता है, जगह-जगह से सामग्री एकत्र करता है और निश्चित रूपरेखा के अनुसार उस सामग्री का निरूपण करता है, ऐसे ही झासाहब ने विश्वविद्यालय की सीनेट, फैकल्टी और काउंसिलों में अपने प्रभाव और शक्ति की तीखी लीकें खींचना शुरू कर दीं। मेधावी पुरुष थे, युवक थे, अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना जानते थे। उनके उस जगन्नाथ-रथ-यात्रा के पहिए अनेकों के ऊपर से गुज़रे, कई विद्वान् प्रतिद्वंद्वियों की हिम्मत टूट गई। दलबंदी का आरोप उन पर लगा, विश्वविद्यालय में जातिगत दुर्भावनाओं के प्रवेश के लिए उन्हें उत्तरदायी ठहराया जाने लगा।

आजकल जब विश्वविद्यालयों में दलबंदियों, दुरभिसंधियों और ओछी प्रतिद्वंद्विताओं का बोलबाला है, सन् ३० के आसपास की परिस्थिति और झासाहब के व्यवहार का सही मूल्यांकन होना ज़रूरी है। झासाहब ब्राह्मण थे और उनके सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी डॉ० ताराचंद कायस्थ; लेकिन असलियत यह थी कि झासाहब के अनेक उत्साही समर्थक और कार्यकर्ता कायस्थ थे और डॉ० ताराचंद को अनेक ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त था। दोनों ही व्यक्ति इस संकीर्ण मनोवृत्ति से बरी थे, यद्यपि छुटभइयों को इस तरह का प्रचार करने में मज़ा आता था। झासाहब के अगणित स्नेह-पात्र विभिन्न जातियों के थे। विश्वविद्यालय में नियुक्तियों और तरक्क़ियों के सिलसिले में उनके द्वारा किसी जाति-विशेष का उपकार हुआ है, ऐसा किसीसे नहीं सुना। अपने स्नेह-पात्र शिष्यों की सहायता सहर्ष करते, किंतु जाति-पांति का भेद किए बिना। विश्वविद्यालय के चुनावों की हार-जीत को मन में घुन की तरह पीसा जाए (जैसा आजकल के 'अखाड़िए' विश्वविद्यालयों में करते हैं), यह भी उनकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल था। इसीलिए डॉ० ताराचंद के साथ मित्रता बराबर क़ायम रही और प्रारंभिक संघर्षों के बाद तो झासाहब ही डॉ० ताराचंद के प्रमुख समर्थक बन गए।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहराई से विचार करने पर जान पड़ता है कि झासाहब की महत्त्वाकांक्षा की जड़ में उनका यह पक्का विश्वास था कि विश्वविद्यालय के प्रशासन के लिए एक विशेष प्रकार की प्रबंध-पटुता और योग्यता की आवश्यकता है और छात्रों के सर्वांगीण जीवन को प्रभावित करने की क्षमता की भी। ये दोनों ही गुण प्रचुर मात्रा में उनके पास थे। यह उनका विशेष क्षेत्र था। विद्वान् और अनुसंधानकर्ता उनसे बढ़कर मौजूद थे, लेकिन उनकी नज़र में मसला विद्वत्ता और अनुसंधान का नहीं था, विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों को सावधानी और दृढ़ता से चलाने का था, उसकी दैनिक आर्थिक और प्रशासनिक समस्याओं को सुलझाने का था; अध्यापन के स्तर को ऊंचा रखने और विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों के समूह को एक विशिष्ट परंपरा-संपृक्त और सुनियंत्रित समाज का रूप देना था।

अपने विश्वविद्यालय-जीवन के प्रारंभिक दिनों में ही झासाहब ने तय कर लिया कि यह काम उन्हें करना है। तय कर लिया, क्योंकि प्रशासनिक सामर्थ्य और प्रतिभा का संयोग उन्हें अपने भीतर दीख पड़ा। लोग भले ही कहें—अहंकारी है। लेकिन दूसरा कौन था, जिसमें इस विशेष उत्तरदायित्व के लिए उनसे बढ़कर योग्यता थी? लक्ष्यवेधी अर्जुन की तरह एकाग्रचित्त होकर वह जुट गए। उन्हें लगा कि नियति ने यही अभियान उनके लिए निश्चित किया है; लेकिन किसी निरुपाय पतझड़ के पत्ते की तरह नियति उन्हें उड़ा नहीं ले चली; अपने हाथों रास्ता बनाया, ठीक अवसर देखकर कदम बढ़ाया। पुरुषार्थी के लिए नियति संकेत-भर है, इससे अधिक नहीं।

क्यों ऐसी उत्कट मनोकामना ने उन्हें अभिभूत कर लिया? महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा जैसे उद्‌भट विद्वान् और मनीषी के पुत्र, साहित्य के सभी विषयों में पारंगत, क़लम के धनी—सभी उपादान तो उनके पास थे, पांडित्य और अनु-संधान के क्षेत्र में अमर कीर्ति प्राप्त करने के।

कभी-कभी मुझे लगता कि उनके प्रशासनिक और सामाजिक जीवन की जिम्मे-दारियां उनके वास्तविक अध्ययनशील और ज्ञानपिपासु व्यक्तित्व को बेरहमी से दबा देती थीं। एक बार मिलने गया; कई ग्रंथ सामने खुले थे, वनस्पति-विज्ञान के, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका भी थी और एक तरफ़ शेक्सपियर। बोले, "एक निबंध लिख रहा हूं—'शेक्सपियर और वृक्षचर्चा'।" मुझे ताज्जुब हुआ—वृक्षचर्चा! तब मालूम हुआ उसी दिन विश्वविद्यालय की वनस्पति-विज्ञान-समिति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उद्‌घाटन समारोह पर उन्हें भाषण देना था। अनेक विषयों पर उन्हें बोलना पड़ता। नवोदित कवियों और लेखकों की भूमिकाएं भी लिखते। पुराने शिष्यों की रचनाओं पर अपनी सम्मति लिख भेजने में भी नागा न करते। इस तरह अपने प्रशासनिक और सामाजिक उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए झासाहब ने आत्म-सेवी, अनुसंधानरत, एकांतवासी अध्येता का रूप छोड़कर अध्यापक और शिक्षा-विद् के उस रूप को अपनाया जो छात्रों के समग्र जीवन को प्रभावित करता है, ज्ञान की विविध पुष्करिणियों के अनुभव के विभिन्न धरातलों को सींचता है, समाज और जीवन की समस्याओं के बीच सहज आत्मविश्वास के साथ विचरता है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने व्यावहारिक जीवन में अध्यापक का शीर्षस्थान स्थिर किया—अपने ही आचरण और उपलब्धियों द्वारा।

अक़सर लोग छींटाकशी करते कि अमरनाथ झा को तो आई० सी० एस० अफ़सर होना चाहिए था। जैसे कुम्हार चाक पर से एक के बाद एक बरतन उतारता जाता है, कुछ ऐसे ही झासाहब के हाथों भावी आई० सी० एस० और अन्य प्रकार के अफ़सरों का निर्माण होता रहा। म्योर होस्टल के बराबर देश में शायद किसी एक छात्रावास से इतने छात्र ऊंची सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगिताओं में सफल नहीं हुए। लेकिन जिन दिनों—यानी पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति तक—झासाहब स्वयं छात्र थे, इंडियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता केवल इंगलैंड में होती थी और वे भारतीय युवक ही अपना जौहर दिखा सकते थे, जो स्वयं इंगलैंड पहुंच जाएं। बी० ए० पास करने के बाद झासाहब ने अपने पिता महामहोपाध्याय गंगानाथ झा से विदेश जाने की इच्छा प्रकट की। मिथिला के कुलीन ब्राह्मणों में सन '१५-१६ तक भी विदेश-यात्रा का कट्टर विरोध था। अमरनाथ को आज्ञा नहीं मिली। उस घटना का ज़िक्र करते हुए एक बार झासाहब बोले, "ज़िंदगी में पहली और अंतिम बार तभी मैं अपने पिता से रुष्ट हुआ।" कुछ ऐसी झंकार थी उनकी वाणी में इस घटना का उल्लेख करते समय, जैसे वीणा पर कोई विस्मृत स्वर जाग उठे हों। लगा कि शायद उसी अतृप्त वासना को पूरा करने के लिए ही झासाहब ने अपने परवर्ती जीवन में व्यावहारिक दक्षता, प्रभुत्व और सामाजिक ठाठ-बाट का महल खड़ा किया।

मनोविश्लेषण के शौक़ीन लोग शायद इस पहलू में झासाहब के समूचे व्यक्तित्व की कुंजी खोजने पर उतारू हो जाएं, किंतु इस अर्ध-सत्य के आधार पर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्कर्ष स्थिर करना नादानी होगी। व्यक्तिगत कुंठाएं अवश्य रही होंगी झासाहब के जीवन में; —किसमें नहीं होतीं ? किशोरावस्था में विदेश-यात्रा और सिविल सर्विस में जाने का स्वप्न भंग होने पर मन में कुंठा उपजी और भीतर कहीं भटकती रही—यह सच है। लेकिन व्यक्तिगत कुंठा से कहीं अधिक उत्तेजक प्रेरणा उन्होंने पाई, समाज में अध्यापकों के स्थान को देख और उस पर विचार कर। आर्यकालीन भारत में गुरु के प्रति व्यापक सम्मान था, समाज के नेता उनसे सलाह लेते, उन्हें समसामयिक जीवन का एक सक्रिय अंग माना जाता। किंतु बीसवीं सदी के भारत में तो अध्यापक को 'ढीलाढाला मास्टर' की संज्ञा दी जाने लगी। भारतवर्ष की पराधीन अवस्था में अध्यापक का सम्मान ज़बानी रह गया। अफ़सर लोग तो तनख़्वाह के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा का आदान-प्रदान करते ही थे, राजनीतिक नेता भी जनता की क्षणिक वाहवाही को सम्मान और महत्ता का मापदंड मानने लगे। विद्वानों की प्रशंसा तो खूब होती और अब भी होती है, लेकिन सामाजिक ओहदेबाज़ी (जिसे अंग्रेज़ी में 'हायरार्की' कहते हैं) में अध्यापक के लिए जगह न थी।

'बेचारा'—अध्यापक के लिए यह विशेषण झासाहब को अखरा; और उन्हें यक़ीन हो गया कि इसके लिए अध्यापक स्वयं भी ज़िम्मेवार है। व्यावहारिक जीवन में निपुणता और सफ़ाई क्यों न हो ? क्या अध्यापक प्रबंध-पटु नहीं हो सकता ? क्या वह आदेश नहीं दे सकता ? उत्तरदायित्व संभालने की क्षमता क्या उसके परे ही रहे ? क्या वह अधिकारी-वर्ग और प्रभावशाली लोगों की पंगत को दूर से ही टुकुर-टुकुर निहारता रहे ?

इस चुनौती को झासाहब ने स्वीकार किया। हथियार भी उन्होंने वे ही उठाए, जिनके बल पर अधिकारी-वर्ग इठलाता था। साहब लोगों के चपरासी की वरदी चमक-दमकदार होती थी, तो झासाहब के अरदली का झब्बा भी कम शानदार नहीं था। अगर उनके बंगले पर मुलाक़ातियों की लंगार लगी रहती, तो झासाहब के यहाँ भी बाहर बरामदे में चिट भेजकर अपनी बारी का इंतज़ार करना पड़ता। जब बुलाहट होती, तो क़रीने और अदब के साथ अंदर जाना होता। इन मुलाक़ातों में बड़े-बड़ों के छक्के छूट जाते, क्योंकि अकसर शुरुआत ऐसे होती : मुलाक़ाती अंदर दाखिल होते ही देखता एक बड़ा कमरा, जिसकी दीवारों ने किताबों से भरी अलमारियों का मानो जामा-सा पहन रखा है, और जो अवनींद्रनाथ ठाकुर, नंद-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाल बोस, असित हलदर, रोरिक, सुधीर खास्तगीर इत्यादि के बनाए चित्रों के अलंकारों से लदी हैं; नाना प्रकार की मूर्तियां और फोटोग्राफ, न सिर्फ़ साहित्यकारों के, बल्कि राजा-महाराजाओं और गवर्नर इत्यादि के भी—मय उनके हस्ताक्षरों के, अगणित स्मृतिचिह्न और उपहार, शिल्पकला के चमत्कारपूर्ण पदार्थ ! वह बड़ा कमरा मानो संस्कृत-सुंदरी का निजी शृंगारगृह था, जिसमें वह अपनी सज्जा, अंगराज और वेशभूषण करते-करते कहीं पायल छोड़ गई, कहीं कंचुकी, कहीं कर्ण-फूल ! क्या किसी अधिकारी अथवा समाज के सिरमौर का भेंट-कमरा होगा उसके मुक़ाबले में ! बीच में बड़ी मेज़ और उसके एक सिरे पर झासाहब संस्कृति के उपादानों के बीच मानो निर्विकार होकर दिग्दर्शन करते हों । मुलाक़ाती मेज के एक तरफ़ कुरसी पर बैठता; तब तक या तो उसकी सिट्टी गुम हो चुकी होती, या इतने सारे पदार्थों और झासाहब के दर्प-भरे चेहरे को देखकर वह बातचीत का जो सिलसिला मन में सोचकर आया था, उसे भूल चुका होता । कोई-कोई मुलाक़ाती कृत्रिम तौर पर हंसने की कोशिश करता, कोई होंठ भींचकर एकाग्रचित्त होने का प्रयास करता; बहरहाल, थोड़ी देर के लिए मौन ! तब चेहरे पर किसी भी प्रकार का भाव न दिखाते हुए झासाहब पूछते, "ह्वाॅट केन आई डू फ़ॉर यू ?" (मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं ?) कुछ ऐसे वज़न और भंगिमा के साथ ये शब्द कहे जाते कि आगंतुक जैसे रोब में आ जाता और फिर यह नामुमकिन था कि मुलाक़ात के दौरान आगंतुक पूरी तरह से आत्मविश्वास वापस पा सके ।

गरमियों की छुट्टियों में झासाहब मसूरी जाते; वहां उन्होंने एक छोटा-सा मकान ले रखा था—'लिनवुड' । जिस दिन इलाहाबाद रेलवे-स्टेशन से रवाना होते, कुछ छोटे अध्यापकों और छात्रों की भीड़ उनके डिब्बे के पास जमा होती । उस ज़माने में फ़र्स्ट क्लास का सफ़र करना एक अध्यापक के दायरे के बाहर की बात थी । लेकिन, झासाहब हमेशा फ़र्स्ट क्लास में जाते, और अकसर हम लोगों ने देखा कि सारे डिब्बे में अकेले । अरदली पहले से ही आकर बिस्तरा लगा जाता; डिब्बे में यात्रा के उपादान ठाठ-बाट के साथ सजे रहते—सफ़री घड़ी, दो थर्मस, फलों की टोकरी, पुस्तकों का ढेर, इत्यादि । बाहर वरदी से लैस अरदली और फिर विदा देनेवालों की भीड़ । रास्ते में जितने बड़े-बड़े स्टेशन पड़ते, वहां पुराने छात्र पहले ही सूचना पाकर जमा रहते । खिड़की के पास बढ़िया सिल्क का कुरता पहने झासाहब बैठे होते, शांत और अडिग । सफ़र की बौखलाहट और स्टेशन की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हलचल, पुरी के समुद्रतट पर उन फेनिल तरंगों की तरह होतीं, जो नहानेवालों के ऊपर से गुज़र जाती हैं, उन्हें बहा नहीं ले जातीं। अंग्रेज़ी राज के उस वैभव-युग में क्या कोई अंग्रेज़ कमिश्नर या आला अफ़सर सफ़र करता होगा, जैसे झासाहब करते! मसूरी में भी उनका निराला ठाठ था। शाम के वक़्त मालरोड पर लाइब्रेरी से हैकमैन रेस्तरां तक उनकी सवारी चलती। अपनी रिक्शा थी, सब रिक्शा-वाले बढ़िया वरदी से लैस, लेकिन लाइब्रेरी से हैकमैन तक झासाहब पैदल ही चलते; यह भी उनका एक अंदाज़ था, चूंकि पीछे-पीछे आती हुई रिक्शा एक शोभा-यात्रा का समां बांध देती। रास्ते में अगणित 'प्रणाम' और 'नमस्कार' मिलते—पुराने छात्र और उनकी पत्नियां, सैलानी युवक और युवतियां तथा मसूरी के प्रतिष्ठित नागरिक। दूर से लोग अंगुली से बच्चों को दिखाते, "देखो, झासाहब जा रहे हैं!" झासाहब की गति मंथर होती, लेकिन रास्ते में देर तक बातचीत के लिए झासाहब रुकते बहुत कम। हैकमैन में उनकी मेज़ निश्चित थी। अकसर चाय के लिए मेहमान होते। रेस्तरां में प्रायः अंग्रेज़ और धनी-मानी भारतीय ही होते और वे लोग अपनी-अपनी मेज़ों से देखते एक प्रोफेसर को ठाठ से बेयरों को हुकुम देते हुए, हैकमैन की मैनेजर—मिसेज़ हैकमैन से गुपचुप बात करते हुए, इत्मीनान और आत्मविश्वास से आवभगत करते हुए—मानो सारे रेस्तरां में दृष्टियों के केन्द्रबिंदु वही हों! इन विदेशी और देशी धनी-मानी सज्जनों की निगाह में क्या होता?—कुछ अचरज, कुछ हसद, कुछ भर्त्सना, मानो उनसे बिना पूछे उन्हीं के क्षेत्र में कोई अनधिकार चेष्टा करता हो।

बहुत-सी बातों में उनकी ये अनधिकार चेष्टाएं चलतीं। एक बार—शायद सन् ४१ में—झासाहब से मिलने नैनीताल जाना पड़ा। पता चला, लाटसाहब के महल में (जिसे आजकल राजभवन कहा जाता है) ठहरे हैं। उस ज़माने में लाटसाहब का मेहमान होना सब उपकुलपतियों के नसीब में नहीं होता था। चोटी के सरकारी अफ़सरों की मौजूदगी में रोब और तपाक के साथ झासाहब गवर्नमेंट हाउस में भी अपना प्रभाव दिखा जाते। उस ज़माने के सिविलियनों को अपनी योग्यता और कार्य-प्रणाली पर नाज़ था, लेकिन मौका पड़ने पर इस क्षेत्र में भी झासाहब उन्हें नीचा दिखाने में न चूकते। एक बार एक अंग्रेज़ अफ़सर ने उन्हें एक ट्रेनिंग सेंटर में भाषण देने के लिए बुलाया। झासाहब ठीक टाइम पर पहुंच गए; अंग्रेज़ अफ़सर महोदय का पता भी न था। और लोगों को जमा करके लेक्चर का प्रबंध तो हम

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों ने कर दिया। बाद में अफ़सर महोदय भागे-भागे आए और कुछ उपालंभ के स्वर में बोले, "मि० झा, मेरा दूसरा पत्र आपको नहीं मिला?" "आपका पत्र? पता नहीं, लेकिन..." जेब से एक पत्र निकालते हुए झासाहब बोले, "यह पत्र अलबत्ता आया था, लेकिन इसे आपका कैसे मानूं?" अफ़सर महोदय ने खोलकर देखा, टाइप किये हुए मज़मून पर वह अपने दस्तख़त करना ही भूल गए थे। घड़ों पानी ढल गया उनके ऊपर।

मियां की जूती मियां के सिर रखने में निपुण होते हुए भी झासाहब क्षणिक विजयोल्लास को कभी प्रकट नहीं करते थे। अनियंत्रित वाणी के पाषाणखंडों के अकस्मात गिरने से बड़े-से-बड़े व्यक्तित्व के दुर्ग की प्राचीरों में छिद्र हो जाते हैं; झासाहब के दुर्ग की प्राचीरों के जोड़ बड़े मज़बूत थे। बिना सोचे-विचारे वह बोलते नहीं थे, इसलिए उन्हें आड़े हाथों लेना मुश्किल था। ठाठ-बाट के व्यवहार का नक़ाब वह इतनी सहज रीति से पहनते थे कि तथाकथित ऊंचे वर्ग के लोग न उनका मज़ाक बना पाते और न उन पर कृपा कर सकते; यही वजह थी कि झासाहब न तो ऊंचे सरकारी अधिकारियों में पसंद किए जाते थे और न राजनीतिक नेताओं के बीच। अंग्रेज़ी राज के दिनों में झासाहब को यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से संदिग्ध नहीं माना जाता था (उग्र राष्ट्रवाद से वह हमेशा अलग रहे), तथापि तत्कालीन सत्ताधारियों के जी-हुज़ूर वह नहीं बन सके। सन '४७ के बाद भारतीय मंत्रियों और राजनीतिक नेताओं की भी लल्लोचप्पो उन्होंने नहीं की। सत्ताधारी—चाहे अंग्रेज़ी राज में, चाहे स्वतन्त्र भारत में—एक हलकी-सी दरबारगीरी चाहता था। हल्की-सी, चूंकि खुल्लमखुल्ला खुशामद में वह रस नहीं मिलता, जो सांकेतिक झकोरों में। लेकिन इशारों मे झुकना या दंडवत् करना—बात तो एक ही है और इसलिए झासाहब ने सन '४७ के बाद भी इस मामले में समझौता नहीं किया। शिष्यों और छोटों के साथ बड़प्पन का और बड़ों के साथ बराबरी का—यही बर्ताव उन्होंने पहले क़ायम रखा, यही बाद में। चोटी के राजनीतिक नेताओं में सरोजिनी नायडू से उनकी खासी घनिष्ठता थी। एक बार विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए पुराने ज़माने का ज़िक्र करते हुए वह बोलीं, "उस ज़माने में आपके प्रोफ़ेसर झा और मैं—दोनों न सिर्फ़ आयु में कम थे, बल्कि हमारी कमर भी पतली थी (इन अवर यंगर एंड लीनर ईअर्स)!" सरोजिनी देवी और झासाहब दोनों ही सन् ३५-३६ के आस-पास खासे स्थूलकाय थे और इस विषय में अकसर छेड़-छाड़

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहती। इस तरह का बंधुत्व अन्य कांग्रेसी और ग़ैर-कांग्रेसी राजनीतिज्ञों के साथ भी रहा होगा; शिष्यों में तो अनेक राजनीतिक नेता बने, लेकिन जब बंधुओं और शिष्यों के हाथ सत्ता और अधिकार की कुंजी पहुंची, तो उस कुंजी को घुमाने के लिए आवाज़ में जिस हलके-से लोच, हंसी में जिस मधुर आमंत्रण और वचनों में जिस अविलंब अनुमोदन की दरकार थी, उनका सहारा क्या झासाहब लेते? जब देखते-ही-देखते सन् '४७ के तुरंत बाद इस कुंजी को घुमा-घुमाकर उनसे कम योग्यता के लोग पदोन्नति पाते गए, तो कभी-कभी हम लोगों को झासाहब की निष्क्रियता पर ताज्जुब होता। उन दिनों जब कभी झासाहब मे मिला, तो यह ज़िक्र छेड़ने की हिम्मत तो नहीं हुई, लेकिन उनके चेहरे और भंगिमा को देखकर लगता, मानो वह कहते हों :

उम्र तो सारी कटी इश्के बुतां में मोमीन,
आख़िरी वक्त में क्या ख़ाक मुसलमां होंगे।

इश्क़े बुतां! क्या वह बुत अपनी ही छाया थी, जिसे नर्सिस ने तालाब के जल में देखा? बहुतों को यह भ्रम था कि झासाहब की अहम्मन्यता उनके पोरों में समा गई थी और शीशमहल में बैठे राजकुमार की तरह वह अपनी ही छवियों में रम जाते, बाहर की दीप्ति अंदर की चमक-दमक से टकराकर ही रह जाती। लेकिन मेरा अनुभव है कि झासाहब अपने नक़ाब को उलटना जानते थे। एक बार ज़िक्र चला इंगलैंड के तत्कालीन शिक्षा मंत्री डॉक्टर एच० ए० एल० फ़िशर का, जो विख्यात इतिहासज्ञ थे। झासाहब विलायत में डॉ० फ़िशर से अपनी मुलाक़ात का वर्णन करते-करते बोले, "फ़िशर मुझे कुछ शान जमानेवाले जान पड़े। और चूंकि मैं ख़ुद शान जमाने में माहिर हूं, इसलिए फ़िशर का मेरे ऊपर ख़ास असर नहीं पड़ा।"

तो झासाहब शीशमहल के पार देख सकते थे। अगर ऐसा न होता, अगर अपनी ही छवियों में वह लवलीन रहते, तो जिस सहज मौन और अपार संतोष के साथ वह अपने पास आनेवाले अनेक अल्पमतियों की बातों को सुन लेते थे, वह असंभव होता। अंग्रेज़ी में जिसे कहते हैं—इनफ़िनिट केपैसिटी टु सफ़र फ़ूल्स—मूढ़मतियों से भुगतने की अनंत शक्ति—वह गुण उनमें प्रचुरता से विद्यमान था। अकसर उनसे अपना निवेदन करने महामूढ़ व्यक्ति आ पहुंचते; झासाहब उन पर हंसते नहीं, उनकी कमजोरियों को जानकर भी उन्हें धता नहीं बताते। चुप-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाप उनका निवेदन सुनते रहते और एकाध शब्द कहीं-कहीं बोल देते। शायद इसका कारण यह था कि अध्यापक के नाते उन्होंने अनेक अपरिपक्व व्यक्तियों को विकसते देखा। बातूनी अथवा बौड़म, दिखाऊ अथवा लज्जाशील, प्रत्युत्पन्नमति अथवा मंदमति—अनेक तरह के छात्रों का उनसे निजी संपर्क था, केवल कक्षा का ही नहीं। अंडरग्रेजुएट छात्रों को उन्होंने व्यवहार के क्षेत्र में उसी तरह विकसते देखा, जैसे अंडे से निकलकर चूज़ा अपने पर फड़फड़ाता है और तरह-तरह की आवाज़ निकालता है, अथवा नौसिखिया तैराक पानी में इधर-उधर हाथ-पैर पटककर दो-चार गज़ फ़ासला तय करता है। वह जानते थे कि इन्हीं बौड़म नौजवानों में से कुछ आगे चलकर समाज का नेतृत्व करने योग्य हो जाएंगे। इसीलिए उनके चेहरे पर कभी झुंझलाहट नहीं होती थी, इसीलिए बेवकूफ़ियों का वह मज़ाक नहीं बनाते, अटपटी बातें करनेवालों अथवा अपनी ही हांकनेवालों तक को हतोत्साह नहीं करते थे। अपनी निगाह ज़रूर रखते, जिससे कि यदि कोई नौसिखिया डूबता हो, तो एक हाथ बढ़ाकर उसे सहारा दे दें; यदि कोई रास्ते से बहुत दूर भटक रहा हो, तो तनिक इशारा कर दें। सतर्क दृष्टि और कभी-कभी इशारा—इतना ही काफ़ी था पथ-प्रदर्शन के लिए। यही थी जीवन-शिक्षा की वह पद्धति, जिसे अन्य अध्यापक जानते ही न थे, क्योंकि उनका वास्ता छात्रों के मस्तिष्क मात्र से होता था, झासाहब का उनके समूचे व्यक्तित्व से।

जिसने इस संजीवनी बूटी को अर्धस्फुटित तृषित चंचुओं में डालने का यश पाया, उसकी तृष्णा को कौनसे कीर्तिलाभ और पदोन्नति की मरीचिका जगा सकती थी ? राष्ट्रपति ने उन्हें पद्मविभूषण प्रदान किया, यूनेस्को एवं अन्य विश्व-संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया, देश-विदेश में उनके भाषणों की चर्चा रही, अखिल भारतीय शिक्षा परिषद, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रौढ़ शिक्षा परिषद इत्यादि का उन्होंने कुशलता और सफलतापूर्वक निर्देशन किया। किंतु झासाहब की आकांक्षाओं का चरम केंद्रबिंदु एक ही था, जिसको बरसों पहले वह प्राप्त कर चुके थे—वह था प्रयाग विश्वविद्यालय का उपकुलपति होना और उपकुलपति के रूप में एक अध्यापक के उत्तरदायित्व को भली-भांति निबाहना। इस अमृत के आगे अन्य सभी रस तुच्छ थे। इसीलिए जहां भी वह रहे या गये, प्रयाग और वहां के विश्वविद्यालय हीं में उनका मन रमा रहा। 'पुनि-पुनि उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै।' झासाहब के मन-पंछी का जहाज़ था वह वट-वृक्ष, जो प्रयाग

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय के शीर्षचिह्न (क्रेस्ट अथवा मोनोग्राम) पर गगा-यमुना की धाराओं के संगम पर अपनी विशाल शाखाओं को फैलाए दिखाया गया है। ज्ञानगरिमा में जिसके असंख्य मूल शिराओं-से बिछे हैं, वह अनादि वट-वृक्ष, जिसकी पत्तियों पर नवीन पीढ़ियों के बालमुकुन्द खेलते-खेलते अविकसित विश्व की विराट झांकियां दिखाते हैं, वही वट-वृक्ष गुरुप्रवर अमरनाथ झा के शुक-स्वरूप व्यक्तित्व का चितरंजन नीड़ था।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतवाला कलाकार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
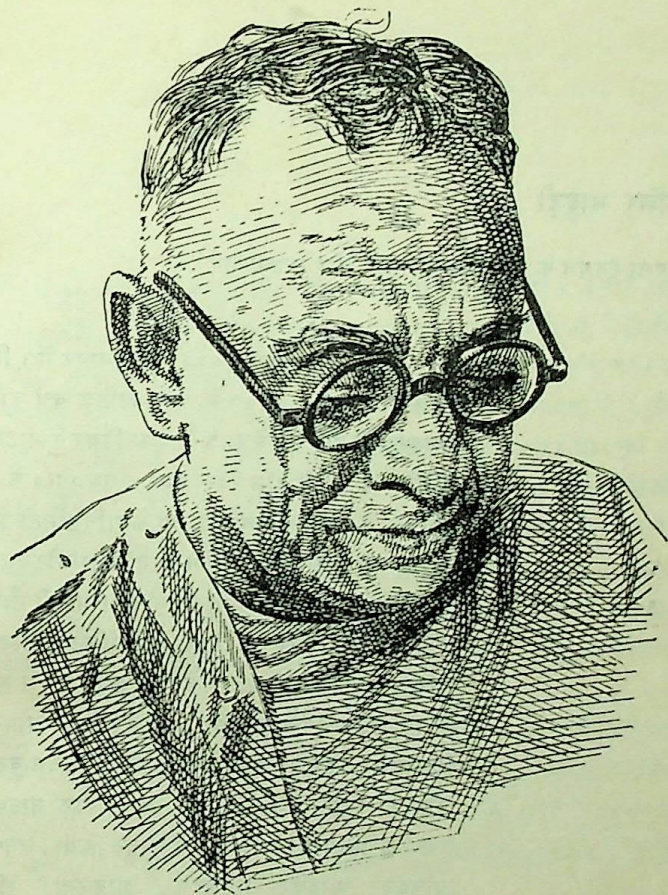
शिशिर भादुड़ी

(बंगला रंगमंच के अद्वितीय अभिनेता और नाट्याचार्य)

जन्म : अक्तूबर, १८८९, मिदिनापुर में। शिक्षा कलकत्ता में हुई। १९०८ में जब स्काटिश चर्च कॉलेज, कलकत्ता में बी० ए० के छात्र थे, शेक्सपियर के नाटकों में अभिनेता के रूप में नाम पैदा किया। एम० ए० के छात्र होने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के यूनिवर्सिटी इंस्टिट्यूट में अनेक बंगला नाटकों में भाग लिया और चाणक्य की भूमिका में विशेष ख्याति प्राप्त की। अंग्रेज़ी साहित्य में एम० ए० करने के बाद मेट्रोपॉलिटन इंस्टिट्यूट (जिसे आजकल विद्यासागर कॉलेज कहते हैं) में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९२१ में अध्यापन को तिलांजलि देकर रंगमंच को जीविका का साधन बनाया, और १० दिसंबर, १९२१ को 'आलमगीर' नाटक का प्रथम अभिनय अपने थियेटर में प्रस्तुत किया। तदुपरांत 'षोडशी', 'माइकेल मधुसूदन', 'शाहजहां,' 'सीता', 'प्रफुल्ल' आदि अनेक नाटकों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। १९३० में अपने दल को लेकर अमरीका गये। १९५६ में व्यावसायिक रंगमंच से कार्यमुक्त हुए। नाट्य-विवेचन के लिए नव्य बंगला नाट्य-परिषद की स्थापना की। १९५८ में भारत सरकार द्वारा प्रदत्त 'पद्मविभूषण' अलंकार को अस्वीकार किया।

मृत्यु : ३० जून, १९५९ ई०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिशिर भादुड़ी का नाम पहले-पहल मैंने ३० बरस हुए सुना था। हमारे छोटे क़सबे में इंटरमीडियेट कॉलेज के एक बंगाली अध्यापक, चटर्जी महोदय, ने द्विजेंद्र-लाल राय के 'चंद्रगुप्त' नाटक को हिंदी में रंगमंच पर प्रस्तुत किया और वह स्वयं चाणक्य की भूमिका में उपस्थित हुए। जिस आवेश और तन्मयता से उन्होंने चाणक्य का अभिनय किया, वह मेरे लिए एक बिलकुल नया अनुभव था। तब तक मैं राधेश्याम पाठक के नाटकों का ही अभ्यस्त था और बिना जोशीले पदों और शेरों के भावोन्मेष की पराकाष्ठा का अनुभव भी नहीं कर सकता था। मेरे किशोर-व्यक्तित्व पर द्विजेंद्रलाल राय की शैली का तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही चटर्जी महोदय से मैंने सुनी शिशिर भादुड़ी की कीर्ति-कथा; सुना कि इसी नाटक में चाणक्य की भूमिका में शिशिर भादुड़ी जब पहले-पहल उतरे, तो बंगला रंगमच पर मानो गिरीश घोष के बाद पुनः भुवनभास्कर उदित हुए।

तीसरे बरस बाद, सन १९५५ की २८ नवंबर को, शिशिर भादुड़ी से मेरी पहली और अंतिम मुलाक़ात हुई—भुवनभास्कर अब अस्ताचलगामी था, उसमें शक्ति-दायक ताप न था, बादलों से सजी नयनरंजक विविधता भी न थी, किंतु था वह रक्तिम भीषण आक्रोश, जो ज्येष्ठ की निस्पंद जलद-शून्य और उत्तप्त संध्या को आतंकमयी बना देता है।

उस रात कलकत्ता के सुप्रसिद्ध श्रीरंगम थियेटर में गिरीशचंद्र घोष के अमर नाटक 'प्रफुल्ल' का एक विशेष अभिनय था। शिशिरबाबू ने उस समय तक नियमित रूप से रंगमंच पर उतरना क़रीब-क़रीब बंद ही कर दिया था और श्रीरंगम थियेटर भी अब गया-तब गया की अवस्था में था। इसलिए शिशिरबाबू का अभिनय देख सकने की मेरी साध पूरी होने की कोई संभावना नहीं जान पड़ती थी। लेकिन इत्तफ़ाक से सरकारी दौरे पर २६ नवंबर, १९५५ को कलकत्ता पहुंचने पर पता चला कि दो रोज़ बाद ही कुछ विपदग्रस्त कलाकारों की सहायतार्थ कलकत्ता के अग्रगण्य रंग-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंच अभिनेता 'प्रफुल्ल' का विशेष अभिनय उपस्थित कर रहे थे। प्रमुख भूमिका में थे ६८ वर्षीय शिशिर भादुड़ी, ख्यातनामा सिनेतारक श्री छवि विस्वास, नरेश मित्र, सरजूबाला इत्यादि। बिल्ली के भाग छींका टूटा! इस सुअवसर से मेरा गठबधन कराया श्री अर्द्धेंदु मुखर्जी ने, जो एक फ़िल्म प्रोड्यूसर और डायरेक्टर की हैसियत से जाने-माने हैं और शिशिर भादुड़ी के शिष्य भी। उन्होंने कहा, 'आपको अभिनय दिखाने की सारी ज़िम्मेवारी मेरे ऊपर; और थियेटर में ही शिशिर भादुड़ी के कमरे के बाहर तक आपको पहुंचा भी दूंगा। लेकिन उनके सामने आपको अकेले ही जाना होगा, मैं उस वक्त मौजूद नहीं होना चाहता, वरना मेरे ऊपर झाड़ पड़ जाएगी।'' मैंने पूछा, ''क्यों ?'' मुखर्जी महोदय भेद-भरी मुस्कान सहित बोले, ''यह आपको स्वयं मालूम हो जाएगा!''

श्रीरंगम थियेटर का भवन बीसवीं सदी के प्रथम दशक (जिसे अंग्रेज़ी में एडवर्डियन एरा कहा जाता है) की स्थापत्य शैली का नमूना था। वही गुंथे-गुंथे-से कंगूरे, वही नाज़ुक स्तम्भ, वही गोलाकार छज्जे और आजकल के नंगे स्थापत्य की बेपर्दगी से शर्माकर मानो सिलवटों में छिपती-सी दीवारें। भवन में अरसे से सफ़ेदी नहीं हुई थी; दरारें नज़र पड़ रही थीं। हॉल खचाखच भरा था, और नए कलकत्ता के 'स्ट्रीमलाइन्ड', भव्य सिनेमा-भवनों के मुक़ाबले वह श्रीरंगम थियेटर गतयौवना नायिका की भांति अपनी जीर्ण-शीर्ण सज्जा में भी उत्फुल्ल मन होकर मानो चहक रहा था। (अब तो सुना है श्रीरंगम थियेटर की कायापलट ही हो गई है। ज़माने की गर्दिश ने मानो अनेक बरसों के सँवारे, सुस्वादित और सुवासित मुरब्बे को आधुनिक 'सॉस' का रूप दिया है।)

उस रात का अभिनय मेरे मन में बस गया। शायद इसलिए कि मैं प्रभावित होने के 'मूड' में था। शायद इसलिए भी कि सौभाग्यवश उस समय मेरे साथ बंगला के सुविख्यात साहित्यिक श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय और कीर्तिनामा नाटककार श्री शचीन सेनगुप्त भी थे। जो भी हो, उस रात का नाटक कैसा लगा, यदि इसका विवरण लिखने बैठूं, तो एक अलग निबंध ही लिख जाएगा। यों प्रोडक्शन में अनेक त्रुटियां थीं। किसी व्यावसायिक मंडली ने रिहर्सल इत्यादि के बाद तो इसे प्रस्तुत किया नहीं था। 'चैरिटी शो' के लिए मंजे हुए खिलाड़ियों की टीम जमा हो गई थी, किंतु डाइरेक्शन का न तो अवसर था, न गुंजाइश ही। जो भी हो, जिस समय नाटक के अंतिम अंक में योगेश की भूमिका में शिशिर भादुड़ी के मुंह से यह वाक्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकला, "आमार शाजान बागान शुखिये गैल (मेरा सजा-सजाया बगीचा सूख गया)", तब उन शब्दों में निहित निःश्वास मानो रंगशाला के एक-एक हृदय के मर्मस्थान को छूता हुआ निकल गया। ३५ बरसों के बीच बंगाल के दर्शकों ने न जाने कितनी बार इन शब्दों को शिशिर भादुड़ी के मुंह से सुना होगा। किंतु हर बार दग्ध हृदय और अभिशप्त आत्मा की वह पुकार निर्ममता के अतस्तल का मंथन कर ही देती थी।

क्या दग्ध हृदय की वह भंगिमा, जिसे शिशिरबाबू रंगमंच पर कुछ घड़ी के लिए धारण करते थे, उनके व्यक्तित्व में चिरजागृत फूत्कारमयी चेतना बनकर बैठ गई थी? मुझे कुछ ऐसा ही आभास हुआ उस वार्तालाप के दौरान, जो इंटरवल में मैं उनके साथ कर सका। तनिक भीत हृदय हो, मैं स्टेज के पीछेवाले हिस्से में होता हुआ साधारण ग्रीन रूम से अलग उस कक्ष तक पहुंचा, जो शिशिर भादुड़ी के लिए रिज़र्व्ड था। रास्ते में विंग्स के पास खड़े हुए छबि विश्वास और सरजूबाला से चलते-चलते बातें हुईं। शिशिर भादुड़ी इंटरवल के बादवाले सीन के लिए मेक-अप बदल रहे थे, इसलिए थोड़ी देर मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी। वह कक्ष आभाशून्य था; दीवारों पर सीलन थी, परदे पुराने थे, सोफ़ा और कुरसियों की चमक और पॉलिश कभी की खत्म हो चुकी थी। यह कहूं कि भादुड़ी के वहाँ पहुंचने के साथ ही वहां की हर चीज़ उनकी दमक से प्रदीप्त हो गई, तो यह अतिरंजना होगी। लेकिन उनके व्यक्तित्व की प्रखरता ने वातावरण की विरसता को भुला दिया और ध्यान उन सोती हुई-सी वस्तुओं से हटकर उनके उत्तेजनापूर्ण चेहरे और उनकी संतप्त वाणी पर अटक गया।

जाते ही मैंने कहा, "ऑल इंडिया रेडियो के डाइरेक्टर-जनरल की हैसियत से मैं आपके पास नहीं आया हूं। मुझे हिंदी में नाटक लिखने का शौक़ है और उसी आधार पर आपका समय लिया है।" जवाब में शिशिर भादुड़ी बिगड़े नहीं, झल्लाए भी नहीं। लेकिन इतना जरूर कहा कि ऑल इंडिया रेडियो से उनका संबंध काफ़ी पुराना रहा है, किंतु पिछले दस वर्ष से वह रेडियो प्रोग्राम में भाग नहीं लेते रहे हैं। (इसका कारण मुझे बाद में मालूम हुआ। बुखारीसाहब के ज़माने में कलकत्ता रेडियो-स्टेशन के किसी तत्कालीन डाइरेक्टर से वह मिलने गये। तब किसी अल्पमति कर्मचारी ने उनसे कह दिया कि स्टेशन डाइरेक्टर और काम में व्यस्त हैं, इसलिए इस समय उनसे मिल नहीं सकेंगे। यह अपमान उनके लिए असह्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया और एक साधारण कर्मचारी की अदूरदर्शिता के बदले उन्होंने ऑल इंडिया रेडियो को ही अपनी प्रतिभा से वंचित रखना तय किया। इस विषय को कुरेदना मैंने उचित न समझा।)

उस रात के अभिनय की बात मैंने चलाई। भादुड़ी बोले, "आज रात जो आपने देखा, वह वस्तुतः बंगला रंगमंच नहीं है।" मैंने कहा, "इतनी संख्या में ऐसे सुविख्यात अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का एक रंगमंच पर देखकर मुझे बंगला रंगमंच के विराट रूप की झांकी तो मिली।"

"वह बात दूसरी है," वह बोले, "मेरा मतलब सुव्यवस्थित और व्यावसायिक रंगमंच से है। बंगला रंगमंच आजकल विश्रृंखल हो रहा है।"

इस पर अनजाने ही मैंने भिड़ के छत्ते में हाथ लगा दिया। बोला, "आपका क्या खयाल है? क्या स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतवर्ष में रंगमंच सुव्यवस्थित और उन्नतिशील हो सकेगा?" मेरा यह कहना था कि शिशिर भादुड़ी के मन का गुबार बरबस निकल ही पड़ा, "आपकी यह आज़ादी! यह किसके लिए आज़ादी है? रंगमंच के लिए तो नहीं! शायद आपको मालूम नहीं कि स्वतंत्रता के आदर्श और स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए लगन और सतत संघर्ष का पाठ बंगाल के नवयुवकों ने बंगला रंगमंच पर ही सीखा था!...यहीं के नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से ग़ुलामी से छुटकारा पाने के लिए मर-मिटनेवाले शहीदों की जय-जयकार होती थी, अत्याचारियों से लोहा लेने के लिए परिस्थितियों और साधनों का रिहर्सल होता था। यहां के आवेशपूर्ण संवादों और उल्लसित गीतों से बंगला की तत्कालीन पीढ़ी भावुकता और आदर्शों की वह बुनियाद तैयार कर सकी, जिस पर बाद में बरसों तक राजनीतिक संग्राम का चुनौतीपूर्ण गढ़ जमा रहा।"

मैं मंत्रमुग्ध होकर सुन रहा था। मैं जानता था कि अपने परमप्रिय क्षेत्र रंगमंच की महत्ता को वह बढ़ा-चढ़ाकर कह रहे हैं—जान-बूझकर नहीं, बल्कि इसलिए कि उनकी सारी अनुभूतियां, उनका सारा अस्तित्व रंगमंच में ही केंद्रित था और अपने युग और समाज पर दृष्टि डालते समय वह अन्य परिस्थितियों और धाराओं के प्रति बरबस ही विमुख हो जाते थे।

"और आज?" उन्होंने सवाल पूछा—मुझसे भी और अपने से भी, "आज बरसों तक इसी बंगला रंगमंच की सेवा करने के उपरांत मैं कहां हूं?" अत्यंत कटु और विषाक्त वाणी में उन्होंने कहा, "मुझे तो क्या, रंगमंच ही को इस

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज़ादी से क्या मिला ?"

मैंने सोचा कि देश की स्वतंत्रता का ज़िक्र करके मैंने नाहक ही अपने सिर एक बला मोल ले ली। मैंने विषयांतर किया। हिंदी रंगमंच और नाटक का थोड़ा-सा ज़िक्र आया। इस बारे में उन्होंने कुछ विशेष सोचा-विचारा नहीं था। भारतीय सरकार द्वारा संस्थापित संगीत नाटक अकादमी की बात छिड़ते ही वह पुनः उत्तेजित हो उठे, किंतु इस बार उनकी आलोचना में चोट के साथ-साथ सुझाव भी था। बोले, "आप दिल्लीवालों से मेरा एक संदेश कह दें। उनसे कहिए कि राष्ट्रीय रंगमंच (नेशनल थियेटर) के माने रंगमंच का राष्ट्रीयकरण (नेशनलाइज़ेशन ऑफ़ थियेटर) नहीं है। एक-दो आलीशान और ख़र्चीले रंगमंचों का निर्माण करके शासन और अकादमी राष्ट्रीय रंगमंच को पैदा नहीं कर सकते। राष्ट्रीय रंगमंच को तो एक देशव्यापी आंदोलन का रूप लेना चाहिए, जिसके अंतर्गत अनेक नगरों में रंगभवन बनें, नाटक-मंडलियों को अनेक सुविधाएं मिलें, ताकि उनकी स्वतंत्र सत्ता क़ायम हो, देहातों और मेलों में असंख्य नाट्य-समारोहों का आयोजन हो, कलाकारों की आर्थिक समस्याओं का स्थायी निराकरण हो। राष्ट्रीय रंगमंच व्यक्तियों और संस्थाओं की अभिव्यक्ति हो, शासन का अंगमात्र नहीं।

बात पते की थी। राष्ट्रीय रंगमंच के बारे में अनेक भ्रांतियां देश में फैली हुई हैं और मुझे लगा कि शिशिर भादुड़ी का विचार एक बुनियादी भ्रांति को दूर करता है। चाहे अकादमी के द्वारा, चाहे शासन के साधनों से, चाहे किसी ग़ैर-सरकारी समिति के उद्योग से, यदि राष्ट्रीय थियेटर के नाम पर एकाध भव्य भवन ही तैयार किया जाएगा या एक ही नाट्य-मंडली विशेष को राष्ट्रीय रंगमंच की संज्ञा दी जाएगी, तो हमारे देश में यथार्थतः रंगमंच का पुनरुत्थान नहीं हो पाएगा।

कटूक्तियों और उत्तेजित भंगिमा के बावजूद शिशिर भादुड़ी विकासोन्मुखी संस्कृति को दिशा-संकेत दे सकते हैं, व्यावहारिक सुझाव दे सकते हैं, अपनी विशाल अनुभव-राशि में से कुछ मूल्यवान रत्न भी दे सकते हैं—इस धारणा को लिये मैं रंगशाला में अपनी सीट पर वापस आया। मैंने सोचा कि किसी-न-किसी भांति उनके अनुभव तथा संवाद, उच्चारण एवं अभिनय में उनकी विशिष्ट शैली को अधिक-से-अधिक व्यक्तियों तक पहुँचाने की व्यवस्था होनी चाहिए। रेडियो ही एक ऐसा माध्यम है, जिससे उनका स्वर हज़ारों-लाखों व्यक्तियों तक पहुंच सकता था। साथ ही आकाशवाणी के रेकर्ड संग्रह में उनकी अनुपम व्यंजना-शैली के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमूने भी होने चाहिएँ। दिल्ली वापस आने पर मैंने शिशिर भादुड़ी को पत्र लिखा। मैंने उनसे विनम्र आग्रह किया कि वह अपनी सुविधानुसार रेडियो-ब्राडकास्ट के लिए अपने अभिनीत नाटकों में से कुछ चुने हुए अवतरणों का अपनी आवाज़ में रेकॉर्डिंग कराएं। मैंने यह भी प्रस्ताव रखा कि आकाशवाणी के ड्रामा-प्रोड्यूसरों को वह कुछ सोदाहरण वार्ताएं दें और इस तरह वाग्शैली और उच्चारण-शैली पर अपने विशाल अनुभव के आधार पर उन लोगों को उचित निर्देशन दें। मुझे पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला, किंतु एक परिचित सज्जन के द्वारा यह आश्वासन उन्होंने दिया कि बाद में कभी वह मेरे पत्र का उत्तर देंगे। कुछ समय पश्चात आकाशवाणी की नूतन प्रोग्राम सीरीज़—यानी राष्ट्रीय नाटकावली में सर्वप्रथम ब्राडकास्ट गिरीश घोष के 'प्रफुल्ल' का ही करना निश्चय किया गया। शिशिर-बाबू से मैंने अनुरोध किया कि वह उस नाटक का परिचय एक वार्ता के रूप में प्रसारित करें; इस काम के लिए उनसे अधिक उपयुक्त और कौन व्यक्ति हो सकता था ? किंतु वह राज़ी नहीं हुए और न कोई उत्तर ही उनकी तरफ़ से आया।

मिलनसारी की उनमें कमी न थी, फिर भी इस तरह के व्यवहार का क्या कारण था ? यह तो स्पष्ट ही है कि शासन और शासन से संबद्ध अधिकारियों को वह कला के क्षेत्र में कुपात्र या अपात्र मानते थे। इसीलिए उन्होंने बंगाल सरकार द्वारा आयोजित संगीत नाटक परिषद का संचालक होने से इन्कार किया। किंतु जिस धुन में आकर उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त 'पद्मभूषण' की उपाधि को भी तिरस्कृत किया, उसके पीछे कुछ गहरी मनोभावनाएं—संभवतः अर्धचेतनावस्था में—विद्यमान थीं। उनके कुछ मित्रों और समकालीन व्यक्तियों ने मुझे कुछ घटनाओं का विवरण दिया, जिनमें उनकी इस मनोदशा को झलकी मिलती है।

नादिरशाह के जीवन पर आधारित एक नाटक में भादुड़ी नादिरशाह की भूमिका में उतर रहे थे। एक दृश्य में नादिरशाह एक सुंदरी को भुजाओं में घेर उसे चूमने के लिए झुकता है। चुबन क्रिया मंच पर दिखाना अभीष्ट न था, इसलिए उस मौके पर मंच पर अंधकार हो जाता था; चुंबन की आवाज़ सुनाई पड़ती थी और परदा गिर जाता था, एक बार जब यही दृश्य हो रहा था, तो अंधेरा होने पर कुछ दर्शकों ने कुरुचिपूर्ण ढंग से सीटियाँ बजाईं और आवाज़ें कसीं। बस, फिर क्या था ! भादुड़ी ने तेज़ स्वर में आदेश दिया, "परदा उठाओ, बत्ती जला दो !" किसकी हिम्मत, जो उनकी मर्ज़ी के विरुद्ध जाए ? परदा उठा, तेज़ बत्तियों

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रकाश में उस दृश्य का वही अंतिम अंश फिर से दिखाया गया, और नादिरशाह ने सबके सामने बिना अंधकार कराए उस लड़की को एक नहीं, कई बार चूमा। लड़की सकपका गई; अन्य पात्र और विंग में खड़े लोग भौंचक्के रह गए; सारे दर्शक-समाज में सन्नाटा छा गया। एक आवाज़ नहीं, एक सीटी नहीं। उस क्षण वह चुंबन नादिरशाह की उद्दाम वासना का प्रतीक नहीं रहा, बल्कि शिशिर भादुड़ी के तेजस्वी व्यक्तित्व में कुंडली मारकर बैठे, छेड़े गए नाग की फूत्कार बन गया।

दूसरी घटना। कलकत्ता के रंगमंच पर शिशिर भादुड़ी रवींद्रनाथ ठाकुर के किसी नाटक का अभिनय कर रहे थे। रविबाबू उन दिनों जीवित थे। दर्शक समाज में शांतिनिकेतन के कई छात्र भी थे। कानाफूसी करने लगे, "न! अभिनय ग़लत है। गुरुदेव इस नाटक को ऐसे प्रस्तुत नहीं करते। गुरुदेव के 'आइडिया' को ही मटियामेट कर दिया, शिशिरबाबू ने।" ये बातें कुछ ऐसे भद्दे ढंग और ऊँचे स्वर में कही गईं कि रंगमंच पर शिशिर भादुड़ी के कानों में भनक पहुंच गई। अभिनय करते-करते रुक गए। सारी रंगशाला ने स्तंभित होकर देखा मंच पर ही से शिशिर भादुड़ी शांतिनिकेतन के उन अनियत्रित छात्रों को संबोधन करके कह रहे थे, "लड़को, जाओ और रविबाबू से कह दो कि शिशिर भादुड़ी उनके इस नाटक का अभिनय इसी भांति करता है और इसके अभिनय का सही ढंग भी यही है। जाओ, निकल जाओ मेरे थियेटर में से, इसी दम!"

हाल ही की बात है। बंगाल प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी ने शिशिर भादुड़ी का अभिनंदन करने का निश्चय किया। बड़ी धूमधाम से एक मीटिंग हुई। बंगला रंगमंच को भादुड़ी की देन पर अनेक भाषण हुए। अंत में शिशिर भादुड़ी इस सत्कार का उत्तर देने के लिए खड़े हुए। जिस माइक्रोफ़ोन पर वे सभी भाषण हुए थे, उसे उन्होंने एक तरफ़ हटा दिया और बोले, "माइक्रोफ़ोन मेरे सामने रखना मेरा अपमान करना है। मैं एक्टर हूं, और आप उसी रूप में मेरा अभिनंदन कर रहे हैं। अगर मैं किसी काम का एक्टर हूं, तो बिना माइक्रोफ़ोन के मेरी आवाज़ इस भवन के कोने-कोने में सुनाई देगी।" उस दबंग आवाज़ को किस सहारे की ज़रूरत थी?

सहारा नहीं! किसी तरह का भी हो, चाहे राष्ट्रपति द्वारा दिया गया सम्मान, चाहे बंगाल अकादमी के संचालक का पद। चाहे आकाशवाणी में ब्राडकास्ट करने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निमंत्रण और चाहे मंच पर माइक्रोफ़ोन—सभी उनकी दृष्टि में बाहरी सहारा देने के बहाने थे और किसी भी तरह के सहारे को स्वीकार करना उन्हें अपनी कमज़ोरी स्वीकार करने के तुल्य जान पड़ता था। लेकिन पिछले दस वर्षों में उन्हें सहारे की ज़रूरत थी, बेहद ज़रूरत। शक्ति उनकी क्षीण हो रही थी, मदिरा-पान के अतिशय व्यसन ने उनके स्वास्थ्य को जर्जर कर दिया था (यद्यपि पिछले तीन-चार वर्षों में यह व्यसन बहुत कम हो गया था), उनके श्रीरंगम थियेटर की बुरी दशा थी—भवन बेमरम्मत पड़ा था, नाटक मंडली दो टूक हो चली थी और सबसे बड़ी बात यह कि अभिनय-कला की जिस भावुकतापूर्ण और सवेदनशील शैली के वह प्रतिपादक थे, वही पुरानी हो चली थी और उन्हीं के शिष्य आधुनिक प्रकृतिवादी या अत्याधुनिक सांकेतिक शैली को अपना चुके थे।

क्या शिशिर भादुड़ी की भावोद्रेकपूर्ण और रसानुवर्तिनी अभिनय-कला सच ही अतीत की ध्वनिमात्र रह जाएगी? यह ठीक है कि प्रमुख प्रेरणा पाई उन्होंने उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य रंगमंच पर होनेवाले शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय से। उस समय इगलैंड में कीन और अरविंग की अभिनय-कला का बोलबाला था। तत्कालीन बंगला नाटककारों—दीनबंधु मित्र, माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीशचंद्र घोष और द्विजेंद्रलाल राय पर भी शेक्सपियर का ही विशेष प्रभाव पड़ा था। जब सन् १९०८ में शिशिरकुमार कलकत्ता के स्काटिश चर्च कॉलेज में बी० ए० के छात्र थे, तब कॉलेज रंगमंच पर अनेक बार उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अभिनय किया। इसीलिए जब बाद में उन्होंने 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य का रूप धरा और १९२०-२१ में एक कॉलेज की प्रोफ़ेसरी छोड़कर अपने नवस्थापित थियेटर में आलमगीर, जीवानंद, रासबिहारी, माइकेल और राम की भूमिका में एक-एक करके उतरे, तो बराबर शेक्सपियर के रिचर्ड, लियर, मैकबेथ, ओथेलो इत्यादि जगत्प्रसिद्ध पात्रों के चित्र उनकी आंखों के सामने नाचते रहते—वे चित्र जो अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के विख्यात ब्रिटिश अभिनेताओं—गैरिक, कीन और अरविंग ने प्रस्तुत किए थे।

किंतु कीन एवं अरविंग के शेक्सपियर और वर्तमानयुगीन जॉन गिल्गिड एवं लॉरेंस ऑलिवियर के शेक्सपियर में महान अंतर है। फिर भी क्या भारतवर्ष में गिल्गिड, ऑलिवियर और इनसे भी अधिक अत्याधुनिक प्रकृतिवादी अभिनेताओं की पद्धति चालू हो सकेगी? क्या हमारी सांस्कृतिक भूमि इस तरह के बीजों के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए उर्वरा है ? शंभु मित्र को ही लीजिये, थोड़ी उम्र में ही वर्तमान भारतीय रंगमंच पर अग्रगण्य हो गए हैं। वर्तमान पद्धति में सांकेतिक व्यंजना इनकी खूबी है। किंतु 'चार अध्याय' के अभिनय में शंभु मित्र कभी-कभी प्रकृतिवादी अथवा सांकेतिक व्यंजना करते-करते भावाविष्ट हो तीव्र स्वर एवं अतिरंजित मुद्राओं में बह जाते हैं। सो क्यों ? एक तो यह कि अन्य आधुनिक बंगला युवक कलाकारों की तरह वह भी शिशिरकुमार भादुड़ी के शिष्य रह चुके हैं। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। उल्लास और उच्छ्वास की जो धारा शिशिर भादुड़ी की कला को प्राण-वान बनाती थी और जो रह-रहकर आधुनिकता के स्तर को तोड़कर शंभु मित्र एवं दीना गांधी-जैसे नवोदित कलाकारों के अभिनय में भी सिहरन पैदा कर देती है, वह धारा भारतीय संस्कारों, भारतीय जातीय स्वभाव और भारतीय नाट्य-कला का अभिन्न अंग है। वह हमारी सृजनशीलता और अभिव्यक्ति में व्याप्त है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर संस्कृत नाटकों में होती हुई वर्तमान लोक-नाटकों में वही धारा प्रवाहित होती है और हमें जीवन-दान देती है।

शिशिर भादुड़ी इसी धारा के उन्नायकों में से थे, इसी राष्ट्रीय संपत्ति को उन्होंने पाया और अपनी प्रतिभा एवं कलावैभव द्वारा उसे पहले से अधिक समृद्ध बनाकर छोड़ गए हैं। कालचक्र इस मतवाले कलाकार की स्मृति को छू न सकेगा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ़सर जो विलक्षण अपवाद था

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
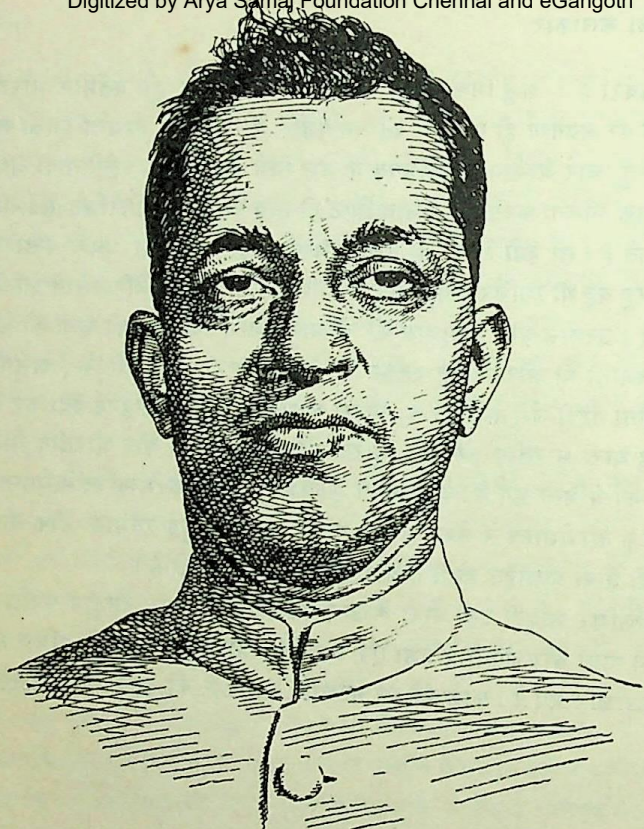
पुरुषोत्तम मंगेश लाड

(उच्च सरकारी अफ़सर और मर्मज्ञ मराठी साहित्यकार)

जन्म : २६ मार्च, १६०५। प्रारंभिक शिक्षा सांवतवाड़ी हाई स्कूल और बंबई में। एलिफ़न्स्टन कॉलेज, बंबई से ग्रेजुएट होने के बाद इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा में सफल हुए और केंब्रिज में शिक्षा और ट्रेनिंग के लिए गये। भारत लौटने पर कुछ वर्ष तक बंबई प्रांत में असिस्टेंट कलेक्टर और असिस्टेंट जज। एक बार पुनः इंगलैंड जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। लौटने पर डिस्ट्रिक्ट जज। अनेक वर्ष तक बंबई के क़ानून-विभाग के सचिव रहने के बाद १६५४ में भारत सरकार के सूचना और प्रसार मंत्रालय के सचिव बनाये गए। मृत्यु-पर्यंत इस पद पर रहे। मराठी साहित्य और संस्कृत के प्रतिष्ठित विद्वान। रचनाएँ : 'मधुपर्क', 'कृत्तिका', 'तुकाराम के अभंग', इत्यादि।

मृत्यु : २६ मार्च, १६५७।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंडियन सिविल सर्विस (परमात्मा उसकी आत्मा को शांति दे !) उस खराद करनेवाली मशीन की तरह थी, जिसमें पड़कर अफ़सर के नुकीले कोने झड़ जाते थे और उसका खुरदरापन घिस-घिसाकर ऐसी चिकनी और संतुलित सतह बन जाता था जिस पर सत्ता और अधिकार की गाड़ी निर्बाध गति से चल सके।

पी० एम० लाड ने सत्ता और अधिकार की गाड़ी निर्बाध और सत्वर गति से चलाई, लेकिन २६ साल तक इंडियन सिविल सर्विस की खराद-मशीन में पड़े रहने पर भी उनके नुकीले कोने नहीं झड़े। प्रखर आदर्शवाद, जड़ता के प्रति विद्रोह, मूढ़ता के प्रति झुंझलाहट, उल्लास और आक्रोश की झट से अभिव्यक्ति—ये थे वे बुदबुदे, जो उनकी अफ़सरियत की सतह को बराबर खुरदरा किए रहे और जिनके कारण इंडियन सिविल सर्विस की खराद-मशीन कारगर नहीं हुई।

यह बात नहीं कि लाड हर तरह से सिविलियनों में अपवादस्वरूप थे। वस्तुतः आई० सी० एस० की परंपरागत प्रबंध-पटुता में वह पारंगत थे। उत्तरदायित्व निबाहने की क्षमता उनमें अपरिमित थी। शासकीय मामलों में न सिर्फ़ समग्र दृष्टि रखते, बल्कि ब्यौरे और तफ़सील की भी दत्तचित्त होकर छानबीन करते। सबसे बड़ी बात यह कि अपने मंत्री, सरकार की नीति और सिद्धांतों के प्रति हमेशा वफ़ादारी बरतते। सिविलियन का काम स्वयं नीति-प्रतिपादन करना नहीं है, वह यह मानकर प्रतिपादित नीति को कार्यरूप में परिणित करने में ही अपनी कर्त्तव्यपरायणता दिखाते। इसलिए सिविलियनों की पंगत में उन्होंने किसी तरह की हीनता का अनुभव नहीं किया, बल्कि उस सर्विस की परंपरा और प्रतिष्ठा में अकसर अपना गौरव भी माना।

फिर भी श्रीमती लाड का कहना है कि कई बार उनके पति पद-त्याग करने पर उतारू हो गए। १६४२ में जिस ज़िले में डिस्ट्रिक्ट जज थे, वहाँ के एक बड़े

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ अफ़सर ने शेखी और व्यंग्य के लहजे में पूछा, "अगर गांधी की अनशन-मृत्यु होने पर मार्शल-लॉ जारी किया गया, तो जज साहब क्या करेंगे ?" तुरंत उत्तर दिया लाड ने, "जज तो सभ्यता और न्यायोचित व्यवहार करेगा, फ़ौजी जहालत का नहीं ।" लेकिन यह सर्वविदित था कि उस परिस्थिति में उनकी जेब में रखा हुआ त्यागपत्र सरकार के हाथ में होगा। गांधीजी के प्रति मन-ही-मन श्रद्धा का भाव रखनेवाले तो अनेक भारतीय सिविलियन थे, लेकिन लाड इतने श्रद्धालु न थे, जितने जिज्ञासु। विवेचन और शंकाओं की अग्नि में तपकर ही गांधीजी के प्रति उनकी भावनाएं सुदृढ़ हुईं। सन '३० में किसी भी उच्चपदीय सरकारी अफ़सर के लिए साबरमती जा पहुंचना हिम्मत का काम था। लेकिन लाड ने वहाँ जाने के बाद आश्रम में शामिल होने के मनसूबे त्याग दिए। इसलिए नहीं कि सरकारी नौकरी का उन्हें मोह था, बल्कि शायद इसलिए कि उनके चिरजिज्ञासु व्यक्तित्व के लिए आत्मसमर्पण के 'फ्रेम' में जड़ा जाना असंभाव्य था।

बुनियादी तौर से किसी भी प्रकार के 'फ्रेम' की अवहेलना उनके स्वभाव, उनकी बातचीत, उनकी कार्य-प्रणाली—सभी में झलकती थी, और शायद इसी-लिए एक कर्त्तव्यपरायण आई० सी० एस० अफ़सर होते हुए भी वह उस श्रेणी में एक अपवाद भी थे। अफ़सरों का सामाजिक जीवन प्रायः वर्ग-विशेष तक सीमित रहता है; अपने बराबर के सरकारी दायरे के लोगों के बीच तो वे खूब खुलते हैं, लेकिन उस दायरे के बाहर के व्यक्तियों के साथ शिष्ट, परंतु दूरी का, व्यवहार रखते हैं (करेक्ट बट डिस्टेंट)। लेकिन लाड का व्यक्तित्व सदानीरा, चिरधवल निर्झरिणी की भाँति उन्मुक्त गति से बिखरता ही रहता, अफ़सरों की पंगत में या गांधीवादी काका कालेलकर की मौजूदगी में अथवा कलामर्मज्ञों, लेखकों, फ़िल्म प्रोड्यूसरों, बौद्ध भिक्षुओं, नास्तिकों के बीच। बनावटी व्यवहार की वह दीवार, जो उत्तरदायित्व के भार से दबे अफ़सरों के चारों ओर खिंच जाती है, लाड को घेर नहीं सकी।

सन '५५ या '५६ में एक दिन लाडसाहब और मैं मोटर में हैदराबाद से सत्तर मील दूर रामप्पा मंदिर देखने जा रहे थे। हमारे साथ बैठे थे हैदराबाद के पुरातत्व विभाग के एक कर्मचारी। लाडसाहब-जैसे उच्चाधिकारी के समक्ष उन महोदय के व्यवहार में विनय और वाणी में झिझक का होना स्वाभाविक ही था। लेकिन लाड थे कि झिझक और अवनत शील की यवनिका को एक झटके में हटाकर उन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महोदय को अपने उन्मुक्त मनोभावों और विविध अनुभवों से अनुरंजित रंगस्थली पर ले आए। पुरातत्व के वह कर्मचारी निकले बड़े रसिक। बातें चल निकलीं रामप्पा के मंदिर का शिल्प, कोंकण में विट्ठल संप्रदाय, प्राचीन कला में स्थूल जीवन का चित्रण, जीवन में कामतत्व, हाल की गाथासप्तशती, वात्स्यायन का कामसूत्र, योगासन और कामशास्त्र के ग्रासन इत्यादि। विद्वत्ता ऐसी, जो बेधड़क बटोरती और बिखेरती चली, अपने वैभव की सत्ता बिना जताते हुए। जॉनसन ने बर्ग के विषय में कहा था कि यदि सड़क पर जाता हुआ कोई व्यक्ति हठात् आई बारिश से बचने के लिए पांच-दस मिनट किसी पोर्टिको में आसरा ले और उन पांच-दस मिनटों में उसकी मुलाक़ात और बातचीत बर्ग से हो जाए, तो उतने लघु समय में ही उसे ज्ञात हो जाएगा कि बर्ग कोई विलक्षण पुरुष है। हैदराबाद से रामप्पा की यात्रा यदि पांच-दस मिनट की ही होती, तब भी उन कर्मचारी महोदय को लाड के विलक्षणं व्यक्तित्व का ज्ञान हो जाता। लेकिन उन सत्तर मीलों के समाप्त होते-होते तो उन कर्मचारी महोदय को न सिर्फ़ लाड की विलक्षणता का आभास हुआ, बल्कि एक अंतरंग-मैत्री की झलक भी मिली।

मैत्री का मुक्तहस्त वितरण—लाड इस मामले में औघड़दानी थे, चाहे उन्हें बदले में कुछ मिले या न मिले। परिचय की जो भी किरण उनकी जिज्ञासा के अथाह सागर में नन्ही-सी तरंग भी जगा देती, वही मैत्री की पूनम का चांद बन जाती। दूसरा व्यक्ति चाहे उस मैत्री के सहारे किसी और तरह की स्वार्थ-सिद्धि करना चाहे, लाड का स्वार्थ एक ही था, यानी अपने ज्ञान की परिधि का विस्तार करना, और अपनी अभिव्यक्ति-नटी के चंचल नर्तन के लिए रंगस्थली पाना। इन 'मानस-मित्रों' की संख्या बढ़ती ही रहती और उनकी पहुंच भी बेरोक रहती। किसी ज्योतिषी से चर्चा चली, तो रात के बारह बज गए। एक सरकारी विभाग के क्लर्क महोदय प्राकृत-पाली में विद्वान निकले, तो उन्हें बुलाया और घंटों उनसे विचार-विनिमय रहा। संस्कृत स्तोत्रों में विशेष दिलचस्पी थी। एक बार मद्रास उनके साथ दौरे पर गया हुआ था। दिन-भर मीटिंगों की झड़ी लगी रही। मैंने समझा थके होंगे, लेकिन नहीं। रात को शुभलक्ष्मी ने बुलाया था। वहां न सिर्फ़ सुमधुर स्तोत्रों का तांता बंधा, बल्कि राग, शंकराभरण और भक्ति-संगीत की समस्याओं पर चर्चा छिड़ गई। बिहारी का ज़िक्र आया, तो मुझसे कहकर एक हिंदी विद्वान् को बुला भेजा। युनाइटेड नेशंस के दिल्ली-स्थित प्रतिनिधि श्री सोलेर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एलोंज़ो पहली बार मिलने आये घर पर। मैं भी मौजूद था। वह क्यूबा के रहने-वाले हैं, तो बात निकली ऊख की खेती की। मैंने समझा शायद शिष्टाचार के नाते क्यूबा के ऊख की बात चलाई होगी। पर नहीं; ऊख के रस का आस्वादन जैसा भी रहा हो, लाड महोदय उस बातचीत में उतना ही रस ले रहे थे, जितना वासंती मधु में। किसी भी वर्ग और किसी भी प्रवृत्ति के व्यक्ति के संपर्क में आने पर लाड उससे घुल-मिल जाते, इसलिए नहीं कि सफल नाते स्थापित करने की इस कला में वह सिद्धहस्त थे, जिसका आजकल बोलबाला है; बल्कि इसलिए कि वे नाते एक सहज भाव पर आधारित होते और स्वार्थ सिर्फ़ इतना होता कि ज्ञानलोलुप और रसलोलुप अंतस् की तृष्णा पूरी हो सके।

अनेक सफल अधिकारी अपने संपर्कों के सहारे अपने-अपने विभागों के काम संपन्न करा लेते हैं। आजकल सरकारी काम-काज को पूरा कराने में भी (व्यक्तिगत कामों का कहना ही क्या!) अन्य कर्मचारियों की सहानुभूति और सद्भावना की आवश्यकता पड़ती है। कोई भी विभाग द्वीप की भाँति रहकर प्रगति नहीं कर सकता; कभी फ़ाइनेंस को राज़ी करना है, कभी पब्लिक सर्विस कमीशन को; कभी होम मिनिस्टरी की सलाह लेनी है, कभी क़ानून की मिनिस्टरी से लोहा लेना है। दरवाज़ा खटखटाने की इस कला में यदि भाईचारे की पहुंच हो गई, तो सोने में सुहागा मिला! लाडसाहब इस कला में दक्ष नहीं थे। अधिकारी वर्ग से उनकी खासी जान-पहचान थी, लेकिन जिसे भाईचारा कहा जाता है, उसमें तो उन्हें माहिर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी मैत्रियों की बुनियाद दूसरी ही थी। इसलिए उनके समकक्ष अधिकारी-वर्ग शायद उन्हें एक विचित्र जीव समझा करते। भड़क जाएं तो ख़ैर नहीं; चुटकियों का जवाब खड्गहस्त होकर दे सकते। मात्र शिष्टाचार के नाम पर मौक़े पर चुप्पी साधना सीखा नहीं। ऐसे आदमी के साथ अन्य उच्चाधिकारीगण का भाईचारा होता कैसे? वैर नहीं था, लेकिन लोग कन्नी ज़रूर काटते। बातें होतीं, चुहलबाज़ी भी, लेकिन शायद अपने बराबर के सिविलियनों की पंगत में उन्हें कभी गिना नहीं गया।

फिर भी अपने विभाग को प्रगति के प्रशस्त पथ पर उन्होंने अग्रसर कर दिया। सूचना और प्रसार मंत्रालय के विकास की अनेक योजनाएँ न सिर्फ़ उनके दिमाग़ में उपजीं, बल्कि उनमें से कई उन्होंने ही चालू कराईं। आकाशवाणी में साहित्यकारों और कलाकारों की नियुक्तियां, फ़िल्म्स डिविज़न में सांस्कृतिक विषयों (यथा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध-जीवन, राधाकृष्ण, इत्यादि) पर फ़िल्मों का निर्माण, गीत और रंगमंच विभाग (सांग एंड ड्रामा डिविज़न) की स्थापना, देश-भर में फ़ील्ड पब्लिसिटी यूनिटों का तांता, दृश्य-सूचना और प्रदर्शनी विभाग की स्थापना, प्रकाशन विभाग द्वारा कलात्मक और साहित्यिक विषयों पर ग्रंथ-प्रकाशन, गांधी रचनावली के संकलन की योजना, बालचित्र-पट समिति का निर्माण—इन दिशाओं में विकास और विस्तार कराने में लाड महोदय का विशेष हाथ रहा और डॉ० केसकर के अनेक स्वप्न पूरा करने में वह सफल रहे। मुश्किल से तीन साल वह इस मत्रालय के सचिव रहे, फिर भी इतनी सारी योजनाओं को उन्होंने पूरा कर दिखाया।

क्या रहस्य था इस अपूर्व कार्यसिद्धि का? 'टैक्ट', भाईचारा और चाटुकारिता में वह चतुर न थे, फिर भी विभागों की हठधर्मी, अफ़सरियत की उदासीनता और दफ़्तरों की मंथर गति उनके क्षिप्र वेग को अवरुद्ध न कर सकीं। ऊपरी तौर से देखने पर इसके दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि फ़ाइलों पर उनके 'नोट' दलीलों और विश्लेषणों में बेजोड़ होते। इस ढंग से अपने विभाग की मांग को रखते कि विपक्ष निरुत्तर हो जाता। उन लेखों में भावावेश अथवा अलंकृत भाषा नहीं, बल्कि नपी-तुली दलीलें होतीं और केवल उतने ही तथ्य, जितने अपने 'केस' को निर्धारित करने के लिए यथेष्ट थे। क्या न लिखा जाए—इसकी उन्हें अचूक पहचान थी। लेकिन उनकी सफलता का दूसरा स्थूल कारण इसके बिलकुल विपरीत था (सरकारी बातों के लिखने में वह जितने ही मितव्ययी और सावधान थे, बातचीत और बहस में उतने ही आवेशपूर्ण और ज़ोरदार। एक झंझा की तरह वह मीटिंगों पर छा जाते और फिर उनकी मांग को ठुकराना अथवा उसका मुक़ाबला करना संगदिल फ़ाइनेंस विभाग के लिए भी संभव न होता। कभी लगता कि वह बेबात ही बरस रहे हैं; कभी लगता कि एक छोटी-सी विजय के लिए बड़े निश्चयों को हाथ से खो रहे हैं, कभी लगता कि बहकी-सी बात कर रहे हैं। लेकिन इन सबके बावजूद जब बहस खत्म हो जाती और लेखा-जोखा होता, तो लाड ही कामयाब होते जान पड़ते।) क्या मालूम वह सब आक्रोश और आवेश, झुंझलाहट और बहक उस व्यूह से ध्यान बंटाने के लिए थे, जिसे वह अपने 'केस' को आगे बढ़ाने के लिए पहले से रच लेते थे!

लेखन में पटुता और वाग्शैली में प्रचंडता, वस्तुतः ये दोनों ही स्थूल कारण थे। गहराई से विचार करने पर उनके दो गुण लक्षित होते हैं—उनकी मेधाशक्ति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबल थी और उनका उत्साह अदम्य। छः बरस की आयु में मातृ-वियोग हुआ और कोंकण के एक छोटे-से गांव में अपने नाना के प्रखर व्यक्तित्व में उनका प्रारंभिक मानसिक विकास हुआ। बंबई में चिकित्सक-समूह-स्कूल के प्रिंसिपल नरूरकर ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और उसे बढ़ावा दिया। अल्पायु होने के कारण एक साल हाई स्कूल परीक्षा देने से रोक दिए गए। वह साल उन्होंने बाहरी पठन-पाठन में गुज़ारा। परिणाम यह हुआ कि जब अगले वर्ष परीक्षा में बैठे, तो सर्वप्रथम घोषित हुए। उसके बाद तो जितनी परीक्षाओं में बैठे, प्रथम ही आए। यहां तक कि नौकरी कर लेने के बाद एक बार फिर बैरिस्टरी करने इंगलैंड गये, तो वहां भी सर्वप्रथम रहे।

प्रतिभा के ऐसे नमूने आई० सी० एस० में और भी हैं; लेकिन प्रतिभा के साथ उत्साह का संयोग कम ही मिलता है। कहा जाए कि एक उच्चवर्गीय सरकारी कर्मचारी को किसी भी विषय में विशेष उत्साह से प्रेरित नहीं होना चाहिए, तो यह अत्युक्ति न होगी। ऐसी ही परंपरा है। कोई स्कीम कल्याणकर है, तो रहे; कोई ध्येय आदर्शवादी है, तो रहे। अफ़सर उस स्कीम और उस ध्येय को पूरा करने में कर्मठता दिखाए, यह तो ठीक है। लेकिन उत्साह? उमंग? ये सब एक संजीदा अफ़सर को शोभा नहीं देते। ये उसके दायरे के बाहर की चीज़ें हैं। भाव-लोक और आदर्शवाद दोनों ही कर्मचारी की कार्य-प्रणाली को विशृंखल कर देते हैं, और इसलिए इनसे जितना ही कतराया जाए, उतना ही अच्छा। अपनी भावनाओं को छिपाने में ही एक सिविलियन की सफलता है। लेकिन लाड ने सदा अपने जीवन में इस सिद्धांत का उल्लंघन किया और इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष हुआ देश को स्वाधीनता मिलने के बाद। श्रीमती लाड बताती हैं कि अकसर वह कहा करते थे कि स्वाधीन भारत के प्रारंभिक वर्ष नींव के पत्थर के समान हैं और इनके निर्माण में इस पीढ़ी के लोगों को मर-मिटना भी पड़े, तो वह सार्थक होगा।

आदर्शवाद की यह झांकी मुझे उस मुलाक़ात ही में मिल गई, जिसके लिए आकाशवाणी में मेरी नियुक्ति के पूर्व उन्होंने मुझे बुलाया। मैं भारत सरकार के एक वरिष्ठ सचिव से मिलने गया था, लेकिन मैंने पाया आदर्शों से आंदोलित, जनसाधारण के हितों के प्रति जागरूक और नवनिर्माण के लिए उत्साह से भरपूर एक ऐसे स्वप्नद्रष्टा को, जिसकी उपस्थिति में मुझे सत्ता अथवा शासकीय पटता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुभव नहीं, बल्कि एक स्फूर्तिदायिनी शक्ति का आभास हुआ। किसके लिए रेडियो प्रोग्राम तैयार किए जाएं, यह प्रसंग चला। "बड़े-बड़े नगरों में अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति में रंगे स्त्री-पुरुषों के मनोरंजन के लिए यह माध्यम नहीं है।...दिल्ली का कृत्रिम वातावरण हमारा मापदंड नहीं हो सकता।...भारतीय भाषाओं में अनंत भंडार भरा पड़ा है, किंतु आजकल जो समाज के नेता हैं, उनकी अभिरुचि वहां नहीं है।" और फिर लोक-संगीत और लोक-संस्कृति की चर्चा चली। लोक-निर्माता के हृदय की धड़कन उनकी वाणी में स्वरित हो रही थी।

बाद में मैंने देखा कि यह उत्साह उन भावुक आदर्शवादियों का क्षणिक उफ़ान नहीं था, जिसकी हमारे समाज में कमी नहीं और जो आए-दिन निराशा और अनास्थाओं से ग्रस्त होकर हर तरह की प्रगति को शंका और समालोचना की दृष्टि से देखने लगते हैं। लाड का उत्साह कर्मठता और तत्परता का अनवरत स्रोत था, क्योंकि उस उत्साह की जड़ में गहरा, सच्चा, खरा अनुभव था। यह खरापन उनके उत्साह के शक्तिपुंज को उनकी कार्यप्रणाली में प्रवाहित कर देता और इसलिए वह अपनी अनेक योजनाओं को कार्यरूप में परिणत कर पाते और इसीलिए जिन लोगों से उनका वास्ता पड़ता, वे उनके काम में हाथ बंटाने को तैयार हो जाते। जब पहली बार हम लोगों ने आकाशवाणी में लोक-संगीत का आयोजन किया, तो प्रधानमंत्री पधारे और आते ही उन्होंने कहा, "लाड, आखिर तुम मुझे यहां खींच ही लाए!" कुछ इस मीठी झड़कन के साथ बात कही गई कि जान पड़ा कि प्रधानमंत्री लाड की पक्की धुन की तह में जो निष्ठा थी, उसे पहचानते हों। भगवान् बुद्ध की पच्चीसवीं शताब्दी के लिए जो फ़िल्म तैयार हुआ, उसके सिलसिले में श्री खन्ना को उनके संपर्क में आना पड़ा। वह दंग रह गए। रात-रात-भर सिनेरियो के लिए सामग्री तैयार की जाती और उसके एक-एक अंग पर विचार होता। बौद्ध साहित्य और प्राचीन कला का मंथन हुआ। अद्भुत लगन थी, विलक्षण धुन थी। कौनसी वे आस्थाएं थीं जो कैंसर के उस मरीज़ को, जो शायद जानता था कि वह चंद ही महीनों का मेहमान है, इतने अथक परिश्रम के योग्य कर देती थीं? बुद्ध के जीवन पर जो 'एलबम' तैयार किया गया, वह तो लगभग संपूर्ण ही लाड का तैयार किया हुआ था।

लेकिन मज़े की बात यह थी कि लाड की तृप्ति कर्म और परिश्रम में हो जाती

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके फलस्वरूप जो प्रशंसा मिलती या उस सिलसिले में लोगों की नज़रों में समादृत होने के जो अवसर मिलते, उनके लिए वह विशेष लालायित न थे। बुद्ध-संबंधी फ़िल्म या एलबम में उनका नाम कहीं जाए, इसमें उनकी कतई दिलचस्पी नहीं थी। सन १९५४ में प्रथम नाट्य-समारोह में मैं पटना से दिल्ली आया हुआ था। पहली बार तभी मेरी उनसे मुलाक़ात हुई सप्रू हाउस में। उस समारोह के प्रबंध का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व उन्हीं का था। लेकिन देखा, वह पीछे की सीट पर बैठे हुए थे। यह तो उनका हमेशा दस्तूर रहा। रेडियो-संगीत सम्मेलनों में उनकी सीट सबसे आगेवाली पंक्ति में कभी नहीं होती थी। उत्सवों के आयोजन में सबसे आगे रहते, लेकिन जब मंच पर बैठने का समय आता तो उनकी खोज करनी पड़ती।

एक तरफ़ तो ऐसी शालीनता और विनय और दूसरी तरफ़ प्रखर उग्रता एव आवेग—लाड के व्यक्तित्व में विरोधी प्रवृत्तियों का समावेश था। विपरीत धारणाओं के सम्मिश्रण के और भी उदाहरण उनके जीवन में मिलते हैं। गोआ में अपने कुल-देवता मंगेश में उनकी आस्था थी, लेकिन पहली बार विदेश से लौटने पर जब उन्हें मंगेश के देवालय में अर्चना देने से रोका गया, तो उन्होंने प्रायश्चित्त करने से साफ़ इन्कार कर दिया। एक ओर तो बौद्ध-दर्शन का सूक्ष्म विवेचन किया और धर्मानंद कौशांबी के अत्यंत निकट आए, दूसरी ओर तुकाराम के अभंगों के संपादन में अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष गुज़ारे। तुकाराम के अभंग-संबंधी ग्रंथ के अंतिम अध्याय पर अपनी मृत्युशैया पर से ही वह लगे रहे। बंबई के अस्पताल में उनके कमरे में मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व का वह दृश्य उनके मित्रों को कभी न भूलेगा। पलंग के चारों ओर पुस्तकें बिखरी पड़ी थीं। देखनेवाले आ-जा रहे थे। फ़ादर मेस्कान्हेस को बुलाया, इसलिए कि तुकाराम के अंतिम कैलाशगमन और ईसा मसीह की स्वर्गयात्रा के दार्शनिक और रहस्यवादी पहलुओं पर उनसे बातचीत कर सकें। मस्तिष्क एक अद्‌भुत यंत्रवत् चल रहा था, देह का जर्जर यंत्र मंद हो रहा था, लेकिन कर्मयोगी की दीपशिखा जागृत थी।

मैंने उनके अंतिम दर्शन नहीं किए। दिल्ली से वह चुपचाप रवाना हुए। किसी तरह का विज्ञापन और भाव-प्रदर्शन वह चाहते नहीं थे, यद्यपि उन्हें मालूम था कि वह उनकी अंतिम यात्रा थी। अपने सहकर्मियों के लिए केवल एक संदेश कहला दिया, "आप लोगों के सहयोग के लिए कृतज्ञ हूं।"

केवल यही आठ शब्द; न विदा ली, न श्रद्धाकुसुमों की अपेक्षा की। जब कभी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं उनके पास गया, समृद्ध होकर ही लौटा—नई प्रेरणा, नए विचार, नई जानकारी, सभी कुछ पाया। लेकिन जब लाड गये, तो इस तरह दामन छुड़ाकर कि कुछ कहते ही न बना, कुछ करते ही न बना।[1]

१. इस लेख के लिए कुछ सामग्री श्रीमती लाड की कृपा से प्राप्त हुई है।—लेखक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्थावान अंग्रेज़ शिक्षक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
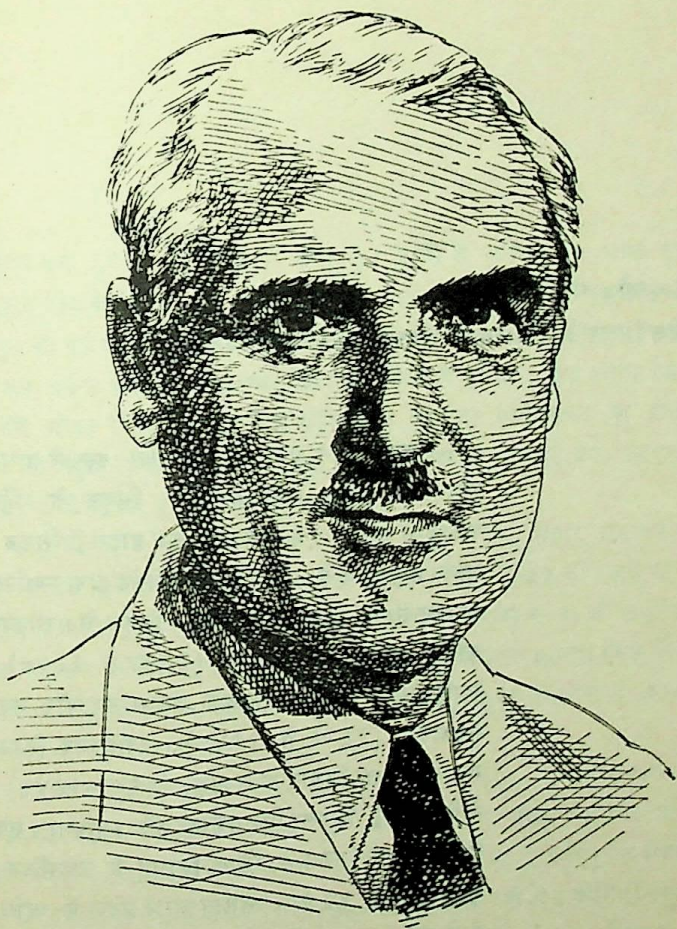
एफ० जी० पीयर्स

(अंग्रेज़ शिक्षक और भारत में पब्लिक स्कूलों के विशेषज्ञ)

जन्म : लंदन, सन १८६२। शिक्षा : इल्फ़ले ग्रामर स्कूल और लंदन विश्वविद्यालय। सिंहल के महेंद्र कॉलेज में सन १६१३ से १६१८ तक वाइस प्रिंसिपल। भारत में १६१८ से १६२१ तक एनीबेसेंट द्वारा स्थापित स्काउट संस्था का संचालन किया। सिंहल में परमेश्वर कॉलेज, जाफ़ना, के प्रिंसिपल (१६२४ से १६२८)। ग्वालियर के सिंधिया स्कूल के हेडमास्टर और नव-संस्थापक (१६२६ से १६४३)। ग्वालियर रियासत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष (१६४३-१६४६)। नैनीताल में बिड़ला विद्या-मंदिर की स्थापना। एक वर्ष के लिए सिंहल के शिक्षा-विभाग के उपसचिव। १६४६ से १६५६ तक वर्तमान आंध्र प्रदेश में ऋषि-वैली स्कूल का नव-निर्माण और संचालन। इस बीच सन १६५२ में बिहार में नेतरहाट स्कूल की योजना और सन १६५४ में उसकी स्थापना में योगदान। सन १६६० में उटकमंड में ब्ल्यू माउंटेन स्कूल की स्थापना। रचनाएं : 'स्ट्रगल ऑफ़ माडर्न मैन', 'हिस्टरी ऑफ़ सिविलिज़ेशन', इत्यादि।

मृत्यु : १३ अगस्त, १६६१।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शायद सन १९५२ के जाड़ों की बात है। रांची से लगभग ६० मील दूर नेतरहाट रोड के किनारे एक ऊजड़ बगीचे में, कटे हुए सूखे वृक्ष के सहारे छोटा नागपुर की दुलराती धूप में बैठे हुए मैंने शिक्षा की एक व्याख्या सुनी। व्याख्याकार एक अंग्रेज़ थे और श्रोता तथा विवेचक अकेला मैं ही था। शांत स्थान देखकर मैंने मोटर रोकी और टिफ़िन-कैरियर में से खाना निकालकर हम दोनों काया की क्षुधा-तुष्टि करते-करते मन की उस तृष्णा से उलझते गए, जिसकी अतृप्ति ही में जीवन है और तृप्ति में जड़ता।

चर्चा मोटर में ही चल पड़ी थी। मैं कह रहा था कि बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव होने के कारण मेरे अनुभव के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र की सबसे भारी चुनौती है 'मास एजूकेशन', यानी विशाल समुदायों—लाखों बच्चों की समुचित शिक्षा का कम-से-कम समय में प्रबध करना। इस चुनौती का सामना किए बिना शिक्षाविद यदि प्रयोगों के सीमित दायरे में पड़ा रहे, तो युग-निर्माण में उसका योगदान भी क्षीण ही होगा।

"बात आपकी कुछ हद तक ही ठीक है," उन्होंने कहा, "चालीस बरस से बच्चों को पढ़ाने और उनकी शिक्षा का प्रबंध करने का मौक़ा विभिन्न परिस्थितियों और हैसियत में मुझे मिलता रहा है। एक शिक्षक, या कहिए कि शिक्षाविद की यह यात्रा—यह सफ़र, मानो एक निरंतर खोज रही है। बीसियों स्कूलों के नक़शे बनाए, उनकी कार्यविधि निश्चित की, अध्यापकों को चुना, विकास की योजनाएं चालू कीं, समस्याएं पैदा कीं और सुलझाईं। लेकिन सच पूछिए, तो वह सफ़र न पूरा हुआ और न होगा। जिस चीज़ की खोज थी, वह तो मृग की कस्तूरी की भांति मेरे ही पास थी। हज़ारों की शिक्षा के मनसूबे बांधना और उसका प्रबंध करना श्रेयस्कर है, किंतु 'शिक्षक'—यह शब्द तो उसी के लिए सार्थक है, जो बच्चों की छोटी-सी जमात—दस-पंद्रह छात्रों की एक कक्षा—में से प्रत्येक के विकासशील व्यक्तित्व की विशेषताओं को समझकर, मानो अपनी वाणी, विचारों

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यवहार की खाद द्वारा एक छोटी क्यारी के पौधों को पनपता देख सके। शिक्षक तो माली है, वनस्पति-विज्ञानवेत्ता या मुगल गार्डनों के नक़शे बनानेवाला इंजीनियर या स्थपति नहीं।''

मिस्टर पीयर्स अंग्रेज़ी में बोल रहे थे। ऊपर मैंने सारांश मात्र दिया है। बोलते समय उनके चेहरे पर जो दृढ़ता दीख पड़ी, उसने मुझे चकित कर दिया।

मिस्टर पीयर्स अंग्रेज़ थे; खास लंदन में सन् १८९२ में उनका जन्म हुआ था। उन दिनों जो अंग्रेज़ ब्रिटिश साम्राज्य के देशों और उपनिवेशों में जाया करते थे, वे प्रायः किसी-न-किसी रूप में अपने को साम्राज्य का रक्षक अथवा तमग्रस्त मानववर्ग का उद्धारक मानकर व्यवहार करते थे। दोनों ही तरह से उन्हें दृढ़ता बरतनी होती थी, भावुकता से कतराना होता था। लेकिन मिस्टर पीयर्स जाति और रूप-रंग से अंग्रेज़ होते हुए भी जब सुदूर सिंहल द्वीप के श्यामल तट पर सन् १९१३ में उतरे, तो मानो भावों की वैसी ही अर्चना लिये हुए, जैसी सदियों पूर्व अशोक-पुत्र महेंद्र लिये पहुंचे थे। २१ वर्ष का वह युवक भारत और पूर्व के दर्शन और संस्कृति से सम्मोहित हो चुका था; इल्वले ग्रामर स्कूल और लंदन विश्वविद्यालय की शिक्षा-दीक्षा के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य के प्राच्य भूखंडों की ओर वह आकृष्ट हो चुका था, महात्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अध्यात्म एवं जीवन-तत्त्वों-संबंधी विशाल ज्ञान-राशि का जिज्ञासु बनकर, जो इन देशों की प्राचीन सभ्यता के खंडहरों में धूलिधूसरित बिखरी पड़ी है। इसीलिए उसका मस्तक श्रद्धावनत था, उसका हृदय भावानुबद्ध था, उसकी वाणी मधुर और शीतल थी।

लंका के महेंद्र कॉलेज में उपाध्यक्ष (वाइस प्रिंसिपल) बने। प्राच्य संस्कृति और दर्शन की ओर उनका जैसा झुकाव था, उसका अनुसरण करते रहते, तो शायद जॉन मार्शल, लेवी इत्यादि की भांति प्राच्य विद्याविशारद बन जाते। संभवतः उस क्षेत्र में उन्हें कीर्ति अधिक मिलती और उनका निजी जीवन शांत गति से संघर्षहीन पथ पर चलता रहता। किंतु जान पड़ता है कि महेंद्र कॉलेज में पहुंचने के बाद विगत सदियों के इंद्रधनुष की रंगीनियों के स्थान पर नई पीढ़ी की अरुणिमा उनके मन में बस गई। बौद्ध और हिंदू अध्यात्म से उनका लगाव बराबर क़ायम रहा, क्योंकि मैडम ब्लावातस्की और एनीबेसेंट के गगनवेधी, मर्मस्पर्शी स्वरों और शब्दों ने लंदन ही में उनकी आस्थाओं की बुनियाद डाली

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, किंतु पुरातत्व और दर्शन के अनुसंधान के आग्रह को उन्होंने बिसरा दिया। क्या उनके भावानुबद्ध हृदय को उस क्षेत्र में तृप्ति नहीं मिलती? असल में पुरातत्व के अध्येता को अकसर आह्लाद की अनुभूति होती है, खासतौर से किसी नए अन्वेषण अथवा विचारधारा को प्रस्तुत करते समय। किंतु उससे भी बढ़कर आह्लाद मिल सकता है अपने मनोनीत आदर्शों का पीछा करने में, अपने निर्मल सूक्ष्म शरीर के प्रतिबिंब-स्वरूप आदर्शों को साकार बनाने में।

इसलिए पीयर्स साहब भारत के अंचल पर पहुंचे, साम्राज्य-रक्षक अंग्रेज़ के रूप में नहीं, 'अज्ञान' और 'अविश्वासों' के तिमिर से करोड़ों हिंदुओं को उबारने के लिए तत्पर मिशनरी के रूप में नहीं, पूर्व की अद्वितीय सांस्कृतिक निधि से पश्चिम का भंडार भरने को आतुर पुरातत्ववेत्ता के रूप में भी नहीं। युवक पीयर्स भारतवर्ष पहुंचे, क्योंकि यहां की भूमि और वातावरण में वह अपने निर्दिष्ट आदर्शों का अनुसरण करते हुए एवं सेवा और साधना के पथ पर चलते हुए अपने जीवन को सार्थक बना सकते थे। लंदन में जन्म लेकर भी इस युवक को भारतवर्ष में ही अपनी जन्मभूमि मिली।

लेकिन १९१८ में भारतवर्ष आने से पूर्व श्रीलंका के महेंद्र कॉलेज में पांच वर्ष तक वाइस प्रिंसिपल के पद पर वह मानो भारत के पौर पर रहे। वे पांच वर्ष एक तरह का 'प्रोवेशन' थे। पर तभी से उनका व्यक्तित्व विकसा। शीघ्र ही लंका-निवासियों के बीच पीयर्स एक उपनाम-विशेष से पुकारे जाने लगे—महत्तेय। सिंहली भाषा के इस शब्द में एक विशेष ध्वनि है, जो अंग्रेज़ी के 'मास्टर' और हिंदी के 'गुरु' दोनों ही से भिन्न है, यद्यपि दोनों ही का थोड़ा-बहुत संकेत इसमें शामिल है।

विरुद उन्हें मिला श्रीलंका में, लेकिन कर्मक्षेत्र का आमंत्रण भारतवर्ष ले आया। किशोरों के लिए बालचर-दलों का आयोजन श्रीमती एनीबेसेंट भारतवर्ष में बेडन पॉवल की स्काउट संस्था के आधार पर करना चाहती थीं। पीयर्स ने स्काउटिंग के कुछ प्रयोग श्रीलंका में किए थे। एनीबेसेंट ने बुला भेजा। इसी क्षण की मानो उन्हें इंतज़ारी थी। सन् १९१८ में एनीबेसेंट के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व ने न जाने कितनों पर अपना जादू फेंका था। पीयर्स आए और सोत्साह एनीबेसेंट की 'इंडियन बॉय स्काउट एसोसिएशन' का संचालन करने लगे। पद था उनका चीफ़ स्काउट कमिश्नर, किंतु वेतन मात्र १०० रुपए मासिक और रहने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्थान। एक अंग्रेज़ के लिए इतने साधारण वेतन पर गुज़र करना सन् १९१८ में भी अनहोनी-सी बात थी। लेकिन उन्होंने अपने को अंग्रेज़ माना ही कब ? न वेश-भूषा में, न व्यवहार में। मद्रास रेलवे स्टेशन पर उतरने पर एनीबेसेंट के नेशनल कॉलेज पहुंचे। मैदान में खेलते हुए एक बालक से उन्होंने दफ्तर का रास्ता पूछा। बालक से उसके खेल इत्यादि के बारे में बहुत-सी बातें कीं। शाम को उसके घर जा पहुंचे और उस बालक को अपने प्रथम बालचर दल में भरती किया। तब से बराबर आनंदराव (यही उस बालक का नाम था) न सिर्फ़ पीयर्स के विशेष सुहृदों में रहे, बल्कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय स्काउट आंदोलन पर उन्होंने एक तरह से अपने को निछावर कर दिया। आनंदरावजी बताते हैं कि पीयर्स के प्रथम स्काउट दल में पीयर्स के प्रमुख सहायक (असिस्टेंट स्काउट मास्टर) थे श्रीकृष्ण मेनन, जो भारत के प्रतिरक्षा मंत्री रह चुके हैं। श्रीकृष्ण मेनन का वेतन ७५ रुपए मासिक था और वह बड़ी तत्परता से अपना काम निबाहते थे। १९२१ में इंडियन बॉय स्काउट एसोसिएशन की एक रैली प्रयाग में हुई। श्री शुक्ल (जिन्होंने बाद में पीयर्स के साथ ग्वालियर के सिंधिया स्कूल में काम किया) उन दिनों एक किशोर बालचर के रूप में उस रैली में शामिल हुए थे। उन्होंने देखा गौरवर्ण के सस्मित मुखड़े के ऊपर गहरे हरे रंग का साफ़ा बंधा था; लेकिन अपनापन झलकता था, केवल साफ़े के कारण ही नहीं, बल्कि उस निश्छल सौहार्द्र और तरल स्नेह के कारण, जो उनकी बातों और व्यवहार में व्याप्त थे। तंबुओं में जाकर बालकों और अध्यापकों से पूछताछ करते, उन्हें उत्साहित करते। उन किशोरों को, जो प्रयाग की उस रैली में शामिल हुए थे, शायद मिस्टर पीयर्स स्काउट नियमों और आदर्शों के साकार स्वरूप जान पड़े। रैली के बाद उत्तरप्रदेश में श्रीराम वाजपेयीजी के नेतृत्व में सेवा समिति बालचर संस्था चल निकली और एनीबेसेंट की बॉय स्काउट एसोसिएशन के कई कार्यकर्त्ता उसमें शामिल हो गए।

सन् १९१८ से लेकर १९२१ के अंत तक स्काउट आंदोलन के वे तीन वर्ष मानो एक वातायन थे, जिसमें से झाँक-झाँककर पीयर्स ने भारतीय बालकों की मनोवृत्ति को पहचाना, उनकी उलझनों को समझा, उनकी आँखों में उमड़ती भावों और सपनों की घटाओं में विराट पारावार को चीन्हा।

वे घटाएं शायद उन्हें १९२१ से १९२४ की अवधि में बार-बार बुलाती रहीं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन तीन वर्षों के लिए वह फिर श्रीलंका वापस चले गए थे, जाफ़्ना के परमेश्वर कॉलेज के प्रिंसिपल बनकर। महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक का वह अनुभव बाद में उनके लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। शिक्षा-संस्थाओं के संचालन में शासन और कार्यपद्धति की उलझनों का मुक़ाबला करना उन्होंने सीखा।

यह अनुभव उनके काम आया १९२४ में, जब वह पुनः भारत आये, पहले तो एक साल के लिए इंदौर के होल्कर कॉलेज के प्रिंसिपल होकर और फिर प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कॉलेज में प्रिंसिपल होकर। इस बार जो भारत आये तो यहीं के हो गए। प्रयाग इस भारतीयकरण के लिए उपयुक्त केंद्र था, शिक्षा-संस्थाओं का समूह, राजनीतिक जागृति का वातावरण, मानसिक और सांस्कृतिक चेतना का क्षेत्र। यों कायस्थ पाठशाला के प्रिंसिपल के लिए एक बड़ा बंगला था, किंतु पीयर्स अपने कुछ पुराने सहकर्मियों के साथ (जिनमें आनंदराव भी शामिल थे) बहुत सीधे-सादे ढंग से रहते थे। वेतन खासा था, लेकिन अपने लिए सौ-दो सौ रुपए निकालकर बाक़ी ज़रूरतमंदों को बांट देते। यह सिलसिला पीयर्स के जीवन में बराबर चलता रहा। कहते हैं अंग्रेज़ कवि शैली अपनी आमदनी की रक़म को ज़मीन पर ढेर-सा बनाकर जमा करता और एक फावड़े से उसके कुछ हिस्से बना देता था। सबसे छोटा हिस्सा अपने लिए रखता और बाकी अन्य लोगों में बांट देता था। पैसे के प्रति पीयर्स का रवैया भी कुछ ऐसा ही था। लेकिन ढिंढोरा पीटने की उनकी आदत न थी और इसलिए मानो उसका सारा पुण्य उनके भीतर समा गया था। प्रचार और प्रशस्ति पुण्यफल को बिखेर देते हैं, मौन उसे पुंजीभूत कर मानो पुण्यात्मा को देदीप्यमान कर देता है। यह बात पीयर्स पर खरी उतरती है।

शायद सन् १९२८ में प्रयाग ही में मुझे उनका सर्वप्रथम दर्शन मिला, छात्र की हैसियत से नहीं, क्योंकि उस समय तो मैं अपने छोटे कस्बे में स्कूल ही का छात्र था। मुझे प्रयाग जाना पड़ा अपने पिताजी के साथ। वह स्वयं शिक्षाविद और पीयर्स साहब से मिलने गये, तो मुझे भी ले गए। सफ़ेद धोती-कुरता और चप्पल पहने किसी अंग्रेज़ को मैंने पहली बार देखा था। बड़े रूपवान थे मिस्टर पीयर्स और उस वेशभूषा में मेरी किशोर दृष्टि में वह किसी देववर्णित आर्य देवता के तुल्य जान पड़े। लेकिन उस समय भी भव्य बाह्य से अधिक मेरे मन में बस गया उनका मृदुल स्वर और मुझे भुलाए न भूली अविकसित सुमनों की दबी-दबी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सी सुगंध के समान उनकी सहज निश्छल मुस्कान।

उनके इसी स्वरूप ने, जो बाहरी तौर से इतना आकर्षक होते हुए भी मुखरित नहीं, स्पंदनशील था, अनुसूइया देवी को मोह लिया। डॉ० एन० जी० परांजपे की सुपुत्री मराठा कुटुंबों में विख्यात सुंदरी थीं। शिक्षा, संस्कृति एवं विविध-गुण-संपन्ना यह युवती इस विदेशी युवक के सरल व्यक्तित्व और निर्लिप्त सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। अनुसूइया देवी प्रयाग में एनीबेसेंट की प्रेरणा से चलाए गए कृष्णाश्रम विद्यालय में अध्यापिका थीं। पीयर्स की पहली अंग्रेज़ पत्नी का देहांत कुछ समय पूर्व ही काश्मीर में हुआ था। अनुसूइया देवी के अनुराग में पीयर्स के संतप्त हृदय को आश्रय तो मिला ही, साथ ही भारतवर्ष के प्रति जिस तरह की साधना मन में लिये वह यहां आये थे, उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में सार्थक करने का स्वर्ण-संयोग भी हाथ आया। पीयर्स और अनुसूइया का १९३० में विवाह तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति में हलचल मचानेवाली घटना थी और अरसे तक उसकी चर्चा चलती रही। जिस तरह की भंवरों में पड़कर ऐसे अंतर्जातीय विवाहों की नैया अकसर डूब जाती है, उनका प्रारंभ प्रायः दैनिक मतभेदों की साधारण सिलवटों से होता है, किंतु जैसे गरम लोहे का भार कपड़ों की सिलवटों को दूर कर देता है, वैसे ही पीयर्स की सतत तापशील सहिष्णुता दांपत्य-जीवन को समतल करती रही—सहिष्णुता वह जो पीयर्स के अंग्रेज़ी जन्मजात संस्कारों को लांघनेवाले महत शील से प्रवाहित होती थी।

यही शील पीयर्स के दैहिक सौंदर्य को प्रदीप्त करता था और उनके किशोर छात्रों की मनोस्थली में आदर्शवाद के बीज बोता था। किशोरों की मनोस्थली अत्यंत उर्वरा होती है आदर्शों के शस्य के लिए। लेकिन उपयुक्त हलधर चाहिए इस अनुपम बीजारोपण के लिए, और हलधर को चाहिए इस उर्वरा भूमि का सतत सान्निध्य। न तो सिंहलद्वीप के महाविद्यालयों में और न प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कॉलेज में पीयर्स को किशोरों की मनोस्थली में रमने का वैसा अवसर मिला, जैसा स्काउटों और बालचरों के साथ कैंपिंग इत्यादि करने में। कायस्थ पाठशाला के अधिकतर छात्र शहर के महल्लों में रहते थे और केवल दस बजे से तीन-चार बजे तक आते थे—कक्षाओं में बैठकर लेक्चर सुनने और पठन-पाठन करने। उनके स्वभाव, शौक, प्रवृत्तियों इत्यादि को समझने और उन्हें प्रेरित करने के लिए समय कहां था ?

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए जब ग्वालियर में एक ऐसे स्कूल के संचालन के लिए निमंत्रण आया, जिसमें सभी छात्र और अध्यापक एक ही स्थान पर स्कूल के भवनों और छात्रा-वासों में ही रहते थे, तो पीयर्स को मानो मुंहमांगी मुराद मिली। सन १९२९ में वह सरदार स्कूल के प्रधानाध्यापक होकर ग्वालियर पहुंचे और चौदह वर्षों में उन्होंने सरदार स्कूल को भारतवर्ष के एक प्रमुख आवासीय विद्यालय (रेजि-डेंशियल पब्लिक स्कूल) का रूप दे दिया, जो आज सिंधिया स्कूल के नाम से विख्यात है। इस तरह शिक्षा-क्षेत्र में उनका वह अभियान शुरू हुआ, जिसकी समाप्ति मृत्यु पर ही हुई।

इस आह्वान में चुनौती थी, और सरदार स्कूल के वातावरण में भी। ग्वालि-यर क़िला जिस पहाड़ी पर स्थित है, वह कल्पना-प्रेरित और आदर्श-प्रेमी जीवों की क्रीड़ास्थली रही है—कई युगों में। जैन श्रेष्ठिगण और नृपति, जिन्होंने साधकों और मुनियों के लिए गुफाएं और तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनवाईं; सहस्रबाहु और तैलंग मंदिरों के निर्माता, जिनकी कला में पत्थर हाथीदांत की बारीक नक़्क़ाशी का माध्यम बन गया है; ध्रुपद गायकों का आश्रयदाता मानसिंह तोमर, जिसने अपनी प्रियतमा मृगनयनी के लिए चट्टानों के हृदय में विचित्र भवन बनवाए। इतिहास के ये चित्र पीयर्स की आंखों के सामने उभर आए होंगे, जब उन्होंने सर-दार स्कूल की इस ऐतिहासिक स्थली का अवलोकन किया।

इतिहास से भी अधिक ग्वालियर गिरि की मनोरम प्राकृतिक छटा ने उन्हें मोह लिया। इस दुर्दांत चट्टान के ऊपर समतल पठार पर खड़े होकर चारों ओर अत्यंत भव्य और हृदयग्राही दृश्यों का तांता-सा लग जाता है। दूर पर जंगल और पहाड़ियां, उनके निकट खेतों का बहुरंगी कालीन और उससे भी निकट पहाड़ी के चतुर्मुखी चरणों के नीचे ग्वालियर और लश्कर नगरों के मकान और खंडहर—टूटे और सलोने खिलौने।

पीयर्स के सहकर्मी, कलाकार श्री प्रभात नियोगी बताते हैं कि अकसर कुल्लू, धर्मशाला एवं हिमालय के अन्य मनोरम स्थानों में ऊंचाई पर इस तरह की सम-तल भूमि देखते ही पीयर्स वहीं विद्यालय स्थापित करने के मनसूबे बांधने लगते थे। बिहार में नेतरहाट के पठार पर जब उन्हें ले गया, तो वहां के मुस्कराते ढलानों, पाइन और यूकलिप्टस के कुंजों, अधरों में छिपी दंतपंक्तियों-से झरनों और दूर-दूर तक फैली घाटियों के कोनों में सूर्योदय और सूर्यास्त की झांकियां देख

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीयर्स विह्वल हो उठे थे, ऐसे ही, जैसे उससे पहले आंध्रप्रदेश में ऋषि वैली की छटा को देखकर और जीवन के अंतिम वर्षों में उटकमंड में नीलगिरि की नीहारिकाओं का अवलोकन कर। जो प्रकृति की छटा कवि की वाणी में गीत भरती है, चित्रकार की कूची से रंग बिखराती है, वही पीयर्स की कलम से विद्यालयों की योजनाओं को खींच लाती थी। विद्यालयों के स्वप्नों की रूपरेखाएं ही उनका काव्य थीं; उन्हीं में उनकी उमंग और कल्पना प्रस्फुटित होती थीं। पीयर्स भी निसर्ग-नीड़वासिनि वीणावादिनि सरस्वती के मानसपुत्र थे।

किंतु अपने मानसपुत्रों के पथ पर सरस्वती कमलदल नहीं फैलाती है; चट्टानों, दलदल और कंटकों के बीच चलना होता है इन वरद पुरुषार्थियों को।

ग्वालियर का सरदार स्कूल—मनमौजी, ऐशपसंद और सरकश सामंत पुत्रों का अड्डा था १९२९ में। क्लास की पढ़ाई-लिखाई उनके लिए कपड़े पर पड़ी धूल के समान थी—झाड़ा और दूर फेंका। न अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रभुओं की इच्छा थी कि ये सामंत-पुत्र कुछ सीखें-गुनें और न उनके पिताओं को उम्मीद थी उनके मस्तिष्क और आंतरिक व्यक्तित्व के विकास की। अध्यापक भला किस खेती की मूली थे !

अनुशासन और अध्ययन के बीज डालने के लिए पीयर्स ने डंडेबाज़ी का सहारा नहीं लिया। न भृकुटि तानी, न घुड़कियां दीं। अगर सरदारों के लड़के क्लासरूम में ऊब जाते हैं, तो क्या क्लासरूम को दिलचस्प नहीं बनाया जा सकता, जिससे वे आप ही खिचे चले आएं ?

पीयर्स ने अपने सहायक अध्यापकों से बातचीत की, नए शिक्षा-प्रयोगों पर पढ़ने के लिए पुस्तकें दीं, घंटों सलाह-मशविरे के बाद क्लास-रूम को रोचक और आकर्षक बनाने की योजना बनाई। इतिहास, भूगोल, विज्ञान और भाषाओं के अध्यापकों ने मिलकर एक निराला अध्ययन-कक्ष तैयार किया। अपने-अपने विषयों पर उन्होंने चित्र, मॉडल, खिलौने, नक़्शे इत्यादि तैयार कराए। हस्तलिखित पत्रिकाएं तैयार कीं। कमरा जगमगा उठा। सरदारों के लड़के आखिर थे तो बालक ही; इस जगमगाती दुनिया का सम्मोहन कैसे बिसराते ? नीरस और शुष्क क्लास-रूम चटकीले रंगों और मधुर सुगंधोंवाले फूलों की क्यारी बन गया और सामंत-पुत्र छात्र मधुमक्खियों की तरह टूट पड़े उन रसों को ग्रहण करने, जो मीठे भी थे और पोषक भी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीयर्स के प्रयोगों की यह वातास कई पुराने अध्यापकों को नहीं रुची। उनमें से कुछ तो चाटुकारिता को ही विकास की कुंजी मान बैठे थे। पीयर्स के इस मधुमास में उन जीर्ण-शीर्ण पत्रों के लिए कैसे जगह मिलती? थोड़े ही समय में स्कूल में अध्यापकों की नई टोली बन गई—ऐसे कर्मठ युवकों की टोली, जो बच्चों की शिक्षा को एक मिशन मानते थे, रोज़ी का साधन मात्र नहीं।

लेकिन आदर्शों का धागा अकसर काम की कशमकश में टूट जाता है और बड़े मनसूबों से बनाई गई टोलियां टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं। पीयर्स के सहकर्मी उनके आदर्शों से तो अनुप्राणित होते ही थे, उनके शिष्ट और मैत्रीपूर्ण व्यवहार पर भी वेमोल विक जाते थे। असल में पीयर्स ने प्रधानाध्यापक के रोब-दाब का उपयोग कभी किया ही नहीं। इस बात में वह दून स्कूल के विख्यात हेडमास्टर फ़ुट से नितांत भिन्न थे। अपने सहायक अध्यापकों में पीयर्स आत्मविश्वास की भावना जगा देते थे, उनके साथ बराबरी का व्यवहार करके और उन्हें अपने क्षेत्र में पूरी आज़ादी देकर। यदि कोई नया सुझाव सामने रखता तो वह उस पर अच्छी तरह ग़ौर करते और उसे कार्यान्वित करने के लिए अध्यापकों को प्रेरित करते। स्वयं अध्यापक के साथ उस प्रयोग पर जुट जाते। यही वह सूत्र था, जो उनकी टोलियों को सुदृढ़ बनाए रखता। इसी कारण बाद में भी जब कभी उन्होंने अन्य स्कूलों में साथ देने के लिए जाने-पहचाने पुराने सहकर्मियों को बुलाया, तो वे उनके निमंत्रण पर दौड़े आए।

बात यह है कि पीयर्स ने किन्हीं पूर्व-निश्चित अथवा जांचे-पड़ताले फ़ारमूलों के अनुसार ग्वालियर के इस स्कूल (अथवा अन्य किसी स्कूल) का पुनर्निर्माण नहीं किया। पीयर्स स्वयं इंगलैंड के किसी भी प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में न तो छात्र रहे थे और न अध्यापक। और न वहाँ वह इंगलैंड के ऑक्सफोर्ड अथवा कैंब्रिज विश्वविद्यालयों की उस छाप को लिये हुए आए थे जिसकी धाक हम हिंदुस्तानियों पर हमेशा पड़ती रही है। इसलिए इन दोनों संस्कारों से ही मुक्त रहकर उन्होंने अपने नक़शे यहां की वस्तुस्थिति देखकर बनाए। इसी कारण वह ग्वालियर के स्कूल में भारतीय वातावरण और संस्कृति का समावेश भी कर सके। सबसे बड़ा क्रांतिकारी सुधार उन्होंने यह किया कि सरदारों के बच्चों के साथ-साथ उन्होंने स्कूल में मध्यवर्ग के और नौकरी-पेशा व्यक्तियों के बच्चों को दाखिल करना शुरू कर दिया। सन १९२९-३० में अंग्रेज़ी राज्य की छत्रछाया में रियासती भारत में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामंतों की तूती बोलती थी। पीयर्स की इस हरकत पर अनेक सरदार बिगड़े, किंतु पीयर्स अंन्य अंग्रेजों की भांति रियासत की दौलत से अपनी जेब भरने तो आए नहीं थे। महाराजा सिंधिया ने उनकी लगन और निःस्वार्थ भावना से प्रभावित होकर सामंती हाय-तोबा की उपेक्षा की। शीघ्र ही सरदार स्कूल सिंधिया स्कूल में परिवर्तित हो गया। अभिजात कुल के किशोर उन्मुक्त वातावरण में साधारण कुटुंबों के लड़कों के साथ हेल-मेल करने लगे। उन्हें नए क्षितिज दीखे और वंशाभिमान के बौनेपन को दूर करने का अवसर मिला।

बड़ी उमंगों के दिन थे वे पीयर्स के लिए, उमंगों और अटूट लगन के। पठन-पाठन का स्तर सिंधिया स्कूल में अन्य स्कूलों की अपेक्षा अच्छा ही था। किंतु विशेषता यह थी कि प्रत्येक बच्चे की व्यक्तिगत प्रगति पर अलग-अलग ध्यान दिया जाता था। यद्यपि इंगलैंड के पब्लिक स्कूलों की तरह सिंधिया स्कूल में भी अनुशासन और पूरे दिन छात्रों को कार्य-संलग्न रखने की पद्धतियां लागू की गई थीं, तथापि व्यक्तिगत स्वच्छंदता को कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता था। तत्कालीन धारणाओं और परंपराओं को देखते हुए वह किसी भी प्रिंसिपल के लिए साहसपूर्ण कार्य था, किंतु जैसे अध्यापकों को, ऐसे ही छात्रों को, स्वतंत्र व्यवहार और स्वतंत्र विचारों के लिए प्रेरित करना पीयर्स ने अपना मूल मंत्र माना। उच्छृंखल व्यवहार पर बंदिश लगाने के बजाय उन्होंने उस प्रवृत्ति के बच्चों के लिए नाटक, खेल-कूद, हस्तलिखित पत्रिकाएं, प्रदर्शनियां, संगीत-मंडप तथा इस तरह की अनेक संस्थाएं स्कूल में चलाईं। सिंधिया स्कूल का खुला रंगमंच अपने ढंग का अनूठा स्थान है। इस तरह स्कूल में आदर्शवादिता का ऐसा वातावरण छा गया, जो न भारतीय स्कूलों में उपलब्ध था और न अंग्रेजी पब्लिक स्कूलों में।

दो कारणों से पीयर्स इस प्रयास में सफल हो सके। एक तो यह कि उन्हें मनुष्यमात्र में गहरी आस्था थी। उनका विश्वास था कि अच्छे काम के लिए सहयोगियों की कमी नहीं; हरएक आदमी के अंतस्तल में एक पैग़ंबर है, जिसे सक्रिय बनाया जा सकता है—उत्साह और ईमानदारी के सहारे। दूसरा कारण था उनकी दूरदर्शिता, जिसके द्वारा उन्होंने सिंधिया महाराज से स्कूल के लिए एक भारी रक़म से अलग फ़ंड खुलवा दिया। आमदनी की चिंताओं से मुक्त होकर उन्होंने स्कूल में प्रयोगों और प्रगति के लिए मज़बूत और स्थायी पथ प्रशस्त कर दिया।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु मनुष्यमात्र की बुनियादी अच्छाइयों में आस्था और अपने व्यावहारिक ज्ञान एवं दूरदर्शिता का उपयोग वह निजी हितों की रक्षा के लिए नहीं कर सके। १४ बरस की अनवरत लगन से सिंधिया स्कूल की कायापलट करने के बावजूद, ग्वालियर के तत्कालीन दरबारी हथकंडे उनके विरुद्ध भी चालू हुए। महाराज के कान भरे जाने लगे। स्कूल की योजनाओं के लिए महाराज से लड़-झगड़कर पीयर्स सुविधाएँ और अर्थ ले सकते थे; लेकिन, जब उन्हें मालूम हुआ कि उन्हीं को पदच्युत करने की तैयारियां हैं, तो उन्होंने एक उंगली भी नहीं उठाई। इस निष्क्रियता की जड़ में अभिमान नहीं था, उपालंभ भी नहीं था; था ऐसा सौजन्य, जिसे तुलसीदास ने गिरि का उपमान बताया है—"बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सहिं जैसे।"

१९४३ में पीयर्स सिंधिया स्कूल से हटकर विक्टोरिया कॉलेज के प्रिंसिपल बने और उसके कुछ समय बाद वह तत्कालीन ग्वालियर रियासत के शिक्षा-विभाग के मुख्याधिकारी (इंस्पेक्टर जनरल ऑफ़ एजुकेशन) के पद से चार बरस तक रियासत की समस्त शिक्षा-संस्थाओं और शिक्षा-नीति का निर्देशन करते रहे। सिंधिया स्कूल से बिछोह उन्हें अखरा, किंतु पीयर्स का यह स्वभाव था कि जो काम सामने आया, उस पर सोत्साह जुट गए। क्षोभ जिन शक्तियों को विशृंखल कर देता है, कर्मठता उन्हें सिमेट लेती है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतवर्ष में कई ऐसे स्कूल, जो अंग्रेज़ अथवा एंग्लो-इंडियन छात्रों के लिए चलाए जाते थे, मृतप्राय हो चले। उन्हीं में से एक था नैनीताल का फ़िलैंडर स्मिथ कॉलेज, जिसे १९४७ में बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट ने अपने हाथों में ले लिया। पीयर्स ने इस बिड़ला विद्यामंदिर का संचालन कर उसे अभूतपूर्व रूप दे दिया। यहां की परिस्थिति दूसरी थी, क्योंकि पूर्णतः पाश्चात्य वातावरण में भारतीय संस्कारों को आधुनिक पद्धति से आरोपित करना था। यहां भी पीयर्स ने अपने परिश्रम, अनुभव और आदर्शों का उपयोग किया। अध्यापकों की मनोवृत्ति को नया मोड़ दिया। बिड़ला विद्यामंदिर को जो बाह्य रूप मिला था, भव्य होते हुए भी उसकी नींव खोखली थी, पीयर्स ही ने उसमें प्राण-संचार किया।

प्राण-संचारक पीयर्स उस विशेषज्ञ डॉक्टर की तरह थे, जिसे एक के बाद एक कई मरीज़ों की पुकार पर अग्रसर होना पडता है। सन १९४३ के बाद से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तरह से बराबर उनका यही हाल रहा। हर निमंत्रण एक चुनौती था। कुछ मित्रों को यह भ्रम हो चला कि पीयर्स एक स्थान पर टिक नहीं पाते हैं। किंतु वस्तुतः उन्होंने हर संस्था में जाकर उस संस्था की नींव तैयार करने ही में अपनी शक्ति लगाई, अपने लिए झोंपड़ी संवारने की भी चेष्टा नहीं की। इसके अतिरिक्त ज्योंही उन्होंने अपने को किसी महत्त्वाकांक्षी के पथ में बाधास्वरूप पाया, वह मोह के बंधन तोड़ चुपचाप बाहर चले गए।

१९४८ में नैनाताल छोड़कर पीयर्स फिर से श्रीलंका गये। २५ बरस के बाद भी महत्तेय की श्रीलंका में वही इज्ज़त थी। श्रीलंका के शिक्षा-मंत्रालय में सहायक सचिव के पद पर एक ऊँचा वेतन देकर उन्हें बुलाया गया। अपने 'कैरियर', अपनी उन्नति के लिए इससे अच्छा अवसर नहीं मिल सकता था। सिंहल के शिक्षा-विभाग के सर्वेसर्वा होकर वह यूनेस्को इत्यादि संस्थाओं में जाकर ख्याति भी पा सकते थे और ऊंची तनखाह भी। सांसारिक दृष्टि में उनके जीवन-क्रम का वही चरमोत्कर्ष होता।

किंतु ऐसा होता, तो वह पीयर्स की जीवन-कथा नहीं होती। पीयर्स पर तो किसी और ही मदिरा का नशा चढ़ता था। यही वह नशा था, जो उन्हें भारतवर्ष के तट पर खींच लाया, जिसने उन्हें बाल-शिक्षा के अभियान में प्रेरित किया, जिसने पग-पग पर उन्हें स्वार्थ और सांसारिक सफलता के आग्रह से दूर रखा। नशा था अध्यात्म का, अदृश्य शक्ति में आस्था का, वीतराग को ही उपलब्ध उस महती संपदा का, जिसके आगे धन और मद की चमक-दमक फीकी पड़ जाती है।

एनीब्रेसेंट के ही जीवनकाल में उनके परम प्रिय शिष्य श्री जे० कृष्णमूर्ति के प्रभाव में आ गए थे पीयर्स। कृष्णमूर्ति धर्म को सामाजिक संस्था नहीं, व्यक्ति की साधना मानते हैं। इसीलिए उन्होंने धर्म-साधना के लिए कोई संस्था स्थापित नहीं की, यद्यपि उनके अनेक अनुगामियों ने अमरीका, यूरोप और भारत में लाखों की संपत्ति उन्हें समर्पित कर दी है। हर शीतकाल में कृष्णमूर्ति भारतवर्ष आते रहे हैं, प्रवचनों के लिए। पीयर्स को उनके प्रवचनों में सम्मोहन प्रेरणा भी मिली, पथ-निर्देशन भी।

आंध्र में मदनापल्ली के निकट एक अत्यत मनोरम स्थान में कुछ ज़मीन कृष्णमूर्ति के नाम कर दी गई है। नाम है ऋषि वैली—ऋषि उपत्यका। ऋषि वैली ट्रस्ट की ओर से वहां एक स्कूल अरसे से चल रहा था। स्कूल की दशा बिगड़

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चली थी। सन १९४९ में जब पीयर्स को श्रीलंका के शिक्षा विभाग में पहुंचे एक साल भी न हुआ था, ऋषि वैली से आग्रहपूर्ण निमंत्रण आया। पीयर्स को निश्चय करने में कुछ भी देर न लगी। ऊँचा वेतन और पदोन्नति का आकर्षण त्यागकर तुरंत ऋषि वैली चले आये—कष्टपूर्ण साधना के लिए, जहां उन्हें आध्यात्मिक शाति के साथ-साथ शिक्षा-संबंधी क्रियात्मक प्रयोगों के लिए मनचाहा क्षेत्र मिला। वेतन शायद फिर वही दो या तीन सौ रुपया महीना! एक ही वर्ष में ऋषि वैली स्कूल की कायापलट हो गई। पीयर्स के स्पर्श में जादू था। यह नहीं कि केवल पुराने और जांचे हुए नुस्खों ही का व्यवहार करके उन्होंने नए प्राण फूंके। ऋषि वैली स्कूल में उन्होंने छात्रों के होस्टलों को नया रूप दिया। एक होस्टल में ३० से अधिक छात्र नहीं थे, और कुटुंब का वातावरण लाने की चेष्टा की जाती। एक अध्याय के नीचे छः से दस तक बच्चे ही रखे गए, इससे अधिक नहीं। सिंधिया स्कूल केवल बालकों के लिए था, ऋषि वैली में बालिकाएं भी दाखिल की गई। नृत्य और संगीत पर विशेष ज़ोर दिया गया। परीक्षा-पद्धति बिलकुल बदल दी गई; छात्रों को व्यक्तिगत विकास के लिए यहां तक आज़ादी दी गई कि कक्षाओं में दिए जानेवाले पाठों में शामिल होना भी उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। इन साहसपूर्ण प्रयोगों में हाथ बंटाने के लिए उन्हें सहकर्मी भी उन्हीं की तरह जीवट और धुन के पक्के मिले। कोई सिंधिया स्कूल से उनका पुराना चेला आ पहुंचा, कोई दून स्कूल की नौकरी छोड़कर चला आया। एक अंग्रेज़ थे मिस्टर हौर्सब्राउ। बंगलौर में फ़र्नीचर की दूकान करते थे, लेकिन पहले अध्यापक रह चुके थे। झट पीयर्स की अनूठी पंगत में शामिल हो गए। निराली धजावाले इन 'गणों की बरात' को एक सूत्र में बांधनेवाला था पीयर्स का अपराजेय आदर्शवाद।

उल्लास के उन्हीं दिनों में मैंने पीयर्स साहब को एक पत्र लिखा—१९५०-५१ में। मैं बिहार के शिक्षा-विभाग का सचिव था। हम लोग बिहार में एक पब्लिक स्कूल स्थापित करना चाहते थे, लेकिन 'पब्लिक स्कूल'—इस नाम में आभिजात्य और वर्गभेद की जो गंध थी, उससे दूर रहना चाहते थे। मैंने दो विशेषज्ञों को पत्र लिखे परामर्श के लिए—दून स्कूल के प्रिंसिपल को और पीयर्स को। पीयर्स से यह भी पूछा कि क्या वह नया स्कूल स्थापित होने पर उसके प्रिंसिपल का पद स्वीकार कर सकेंगे? उनका उत्तर आया—"ऋषि वैली छोड़ना असंभव है। किंतु

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस ढंग का पब्लिक स्कूल आप लोग बनाना चाहते हैं, उसकी आवश्यकता मैं पहले से महसूस करता रहा हूं, और उसकी योजना तैयार करने में आपका हाथ अवश्य बटाना चाहता हूं। आप लोग मुझे परामर्शदाता के रूप में बुलाएं, तो सुविधानुसार छुट्टियों में आ-जाकर शायद कुछ काम कर सकूं। वेतन की कोई ज़रूरत नहीं। मेरा शौक़ है, मेरी साधना है।"

और इस तरह पीयर्स ने वह योजना तैयार की (और उसे कार्यान्वित करने में भी मदद की), जिसका साकार रूप है रांची से ९० मील दूर एक पठार पर स्थित नेतरहाट स्कूल। सारे देश में एक अनूठी संस्था, जिसका ढोल बहुत कम पीटा गया है, लेकिन जो शिक्षा के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व प्रयोग है। यह सच है कि इस योजना का निर्माण और विकास अकेले पीयर्स साहब की देन न थे, उनमें हम दो व्यक्तियों—(यानी बिहार सरकार के तत्कालीन चीफ़ सेक्रेटरी श्री लल्लन प्रसाद सिंह और मैं) ने हर क़दम पर योगदान दिया। यह भी इसलिए संभव हो सका, क्योंकि तत्कालीन मुख्य मंत्री स्वर्गीय डॉ० श्रीकृष्ण सिंह और शिक्षा-मंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने हमारी त्रिमूर्ति को पूरी आज़ादी दे दी थी नेतरहाट स्कूल की योजना के संबंध में।

कैसे नेतरहाट स्कूल की स्थापना हुई, उसकी अलग कथा है। किंतु कहूं कि इस योजना में ही शिक्षाविद और अध्यापक पीयर्स का 'कैरियर' (जीवन-धारा) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा, तो अतिशयोक्ति न होगी। नेतरहाट स्कूल १२ से १७ बरस की आयु तक के छात्रों के लिए उत्कृष्टतम पढ़ाई का केंद्र है—योग्य और चुने हुए अध्यापक, जिनका सारा समय छात्रों की ही सेवा में व्यतीत होता है; बढ़िया लबोरेटरी और वर्कशाप; खेल-कूद का अच्छा-से-अच्छा प्रबंध; पौष्टिक आहार और स्वस्थ जीवन;—नेतरहाट स्कूल में वे सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं, जो दून स्कूल-जैसे अभिजातवर्गों के बच्चों के पब्लिक स्कूलों में हैं। किंतु नेतरहाट स्कूल में बिहार का निर्धन छात्र शिक्षा पा सकता है, यदि वह अपनी प्रतिभा के आधार पर स्कूल की भरती परीक्षा में पास हो जाए। जिस बच्चे के अभिभावक की मासिक आमदनी १०० रुपए से कम है, उसका सारा ख़र्चा बिहार सरकार बरदाश्त करती है; और जिसके अभिभावक की आमदनी ८०० रुपए मासिक से अधिक है, उसका सारा ख़र्चा अभिभावक देता है। बीचवाली आमदनियों के लिए सरकारी सहायता का एक क्रम निश्चित है। उद्देश्य यह है कि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेधावी छात्र को श्रेष्ठतम शिक्षा मिल सके। पहले ही वर्ष खेतिहर मज़दूर, दरज़ी, किसान, आदिवासी—इन कुटुम्बों के प्रतिभावान बच्चे आए और सुसंपन्न परिवारों के बच्चों में हिल-मिल गए। पल्ला निर्धन बालकों का ही भारी रहा। ये थे वे दलित कुसुम, अभाव जिन्हें पनपने नहीं देता; वे हीरककण, जिन्हें खरादने के लिए कोई हाथ आगे बढ़ाते ही न थे।

पब्लिक स्कूलों का दूसरा दोष यह गिना जाता है कि कच्ची उम्र में होस्टलों में रहने के कारण वहां के बच्चे परिवार के स्नेहसिक्त वातावरण से दूर हो जाते हैं और इसीलिए उनके स्वभाव में एक तरह का उखड़ा-उखड़ापन आता है; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी व्यक्तित्व के विकास के लिए इस वातावरण का अभाव हानिकारक है। पीयर्स की योजना के अनुसार नेतरहाट में होस्टलों का स्थान आश्रमों ने ले लिया है। हरेक आश्रम एक भारतीय घर की तरह बनाया गया है। उसी आश्रम में अध्यापक और उनकी पत्नो तथा बच्चे रहते हैं। पत्नी आश्रम की माता हैं। एक आश्रम में पंद्रह से ज़्यादा बच्चे नहीं हैं। माता उनकी देखभाल करती हैं—ऐसे ही, जैसे किसी भी भारतीय परिवार में। खाना पकाने के लिए नौकर हैं, बाक़ी सब काम बच्चे और अध्यापक अपने हाथों करते हैं।

अपने हाथ से काम करने पर स्कूल में काफ़ी ज़ोर दिया जाता है। कपड़े साफ़-सुथरे हैं, लेकिन चमक-दमक ज़्यादा नहीं है। सादी ज़िंदगी है, परिश्रम की ज़िंदगी है। वर्कशाप में नए-नए औज़ारों की सहायता से बच्चे स्कूल के लिए फ़र्नीचर इत्यादि भी बनाते हैं।

शिक्षा का स्तर देश के किसी भी स्कूल से कम नहीं है, इसका सबूत यह है कि पहले ही वर्ष हायर सेकंडरी परीक्षा में इस स्कूल के छात्र बाज़ी मार ले गए। अन्य परीक्षाओं में भी, जैसे इंजीनियरिंग कॉलेज और फ़ौजी केंद्र की प्रवेश-परीक्षा में, इस स्कूल के छात्रों ने जौहर दिखाए। पढ़ाई का माध्यम हिंदी होने से इन छात्रों का ज्ञान-ग्रहण अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों से शायद अधिक मात्रा में ही है। अंग्रेज़ी का स्टैंडर्ड भी खासा है, इस तरह आधुनिकता और परंपरा के बीच उस संतुलन की उपलब्धि के आसार नज़र आते हैं, जिसकी हमारे देश में विशेष आवश्यकता है।

पीयर्स ने इस स्कूल की योजना तैयार करने में न सिर्फ़ शिक्षा के उच्चादर्शों को साकार रूप दिया, बल्कि बारीकियों और ब्यौरे प्रस्तुत करने में अपनी व्यावहारिक बुद्धि और अनुभव का भी। वह उन लोगों में से नहीं थे, जो एक विद्वत्ता-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण रिपोर्ट तैयार कर पल्ला झाड़कर अलग हो जाते हैं। छात्रों का चुनाव, अध्यापकों के वेतनक्रम और नियुक्तियां, भवन-निर्माण, फ़र्नीचर और लेबोरेटरी का प्रबंध—ऐसी अनेक तफ़सीलें थीं, जिनके लिए हम लोग बार-बार उन्हें विहार और नेतरहाट बुलाते रहे। जब स्कूल का श्रीगणेश हो गया (बिना किसी उद्घाटन समारोह के), तब उसके बाद भी पीयर्स स्कूल की कमेटी के सदस्य बने रहे, और उसकी प्रगति पर ध्यान देते रहे। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संस्था के निर्माण में उन्हें अपने जीवनपर्यंत प्रयासों और प्रयोगों को सबसे अधिक संतोषजनक रूप में कार्यान्वित करने का अवसर मिला। धीरे-धीरे इस प्रयोग की चर्चा देश-भर के शिक्षा-क्षेत्रों में होने लगी और बाद में तो महाराष्ट्र, केरल और उड़ीसा की राज्य-सरकारों ने भी इनसे इसी प्रकार की योजनाएं तैयार करने को कहा।

उधर ऋषि वैली स्कूल में कुछ परिस्थितियां पैदा हो गईं—ऐसी परिस्थितियां, जिनके घर्षण और तपन को पीयर्स का मृदुल स्वभाव सहन नहीं कर सकता था। यही पीयर्स की कमज़ोरी थी। व्यक्तिगत संघर्ष का सामना वह कभी कर न पाए। लगता जैसे उनकी सारी शक्तियां उस परिस्थिति में निस्पंद हो जाती थीं। कैसा आश्चर्य था कि वही पीयर्स, जब निर्माण की चुनौती आती, तो ऐसी सतत सक्रियता और उत्कट कर्मठता का परिचय देते कि विश्वास नहीं होता कि एक ही व्यक्ति के दो रूप इतने भिन्न होंगे।

सन १९५९ में जब मैंने सुना कि पीयर्स ऋषि वैली छोड़कर जा रहे हैं, तो उनकी आयु का ध्यान कर मैंने सोचा कि अब शायद उनका शिक्षा-अभियान समाप्त हुआ। तभी एक दिन उनका पत्र मिला—"माथुरसाहब, आपको जानकर खुशी होगी कि मैं उटकमंड में एक नया स्कूल चलाने जा रहा हूं—ब्ल्यू माउंटेन स्कूल। बिलकुल नवीन पद्धति पर। पैसा तो कम है, लेकिन उत्साही सहकर्मियों की कमी नहीं। शिक्षकों और अभिभावकों को मैंने जो पत्र भेजा है, उसे आपभी पढ़ें।

कुछ दिनों बाद न्यू एजूकेशन फ़ैलोशिप की कान्फ्रेंस में वह दिल्ली आये। बड़े ही जोश और उल्लास के साथ उन्होंने मुझे अपने नए स्कूल की योजना समझाई।

मैं दंग रह गया। ६८ बरस की आयु में जो व्यक्ति बिलकुल नए सिरे से प्रयास, बाधाओं, उपलब्धि और बिछोह का चक्र चलाने पर उतारू है, उसे क्या कहा जाए? मैंने उनकी ओर ध्यान से देखा, उन आँखों में जो ज्योति झलक रही थी, वह तो इक्कीस बरस के उस नौजवान के नेत्रों में थी, जो सन १९१३ में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात सागर पार कर भारत और सिंहल के किनारों पर सेवा और साधना की अशेष पूंजी के लिए आया था। चिरंतन आदर्शों के अनवरत नर्तन के लिए मानो सीमाहीन अजिर थे वे दो नयन !

पीयर्स ने अपने को वृद्ध कभी नहीं समझा, मृत्यु की पदझंकार सुनकर भी नहीं। १३ अगस्त, १९६१ को ६६ वर्ष की आयु में बंबई में उनका देहावसान हुआ। उटकमंड से इलाज के लिए गये हुए थे। सवेरे बोले, "कमज़ोरी तो है, लेकिन 'शेव' (हजामत) अवश्य करना है। आइ शुड लुक माइ बेस्ट।" फिर कहा, "सोना चाहता हूं।" सोए, तो फिर उठे नहीं।

× × ×

काल की लहरें आएंगी और शायद अस्थिर बालुका-राशि पर पीयर्स के पद-चिह्नों की रेखाएं भी न रह पाएं। महापुरुषों की कथाएं कवियों की वाणी में अमर हो जाती हैं। किंतु ऐसे भी तो संत हैं, जिन्होंने कीर्ति कभी चाही नहीं, पर कर्म जिनके न जाने कितने पथों को ज्योतित करते रहे। शिक्षक और अध्यापक के रूप में मैंने यहां पीयर्स की चर्चा की है। किंतु, वस्तुतः, उनमें एक संत के लक्षण स्पष्ट थे। नेतरहाट में 'शैले' नाम के बंगले के सामने एक प्लेटफ़ार्म पर बैठकर अंधेरी रात में तारों की छाया और ऋतुराज-सुवासित वृक्षों की गंध के बीच पीयर्स से अनेक बातें मैंने कीं, उनके विचार जाने, उनके अनुभव समझे। अशेष क्षमा और करुणा की तरंगें मानो मुझे छू-छू जाती थीं। क्या बात थी कि उस व्यक्ति के हृदय में कड़वाहट नहीं थी—उसके लिए भी नहीं, जिसने उनका अहित किया ? लगा कि जैसे पीयर्स ने अपने अहम पर विजय प्राप्त कर ली थी। धक्के लगे, लेकिन तिलमिलाहट नहीं, आक्रोश नहीं, जलन नहीं।

सौरोकिन नामक एक पाश्चात्य दार्शनिक का कहना है कि जैसे किसी बड़ी भारी फैक्टरी को चलाने के लिए बिजली के शक्तिपुंज यानी डायनमो की आवश्यकता होती है, उसी तरह मानवमात्र के विशाल समूह में यत्र-तत्र ऐसे डायनमों की आवश्यकता है, जिनके अंदर निस्सीम सौजन्य और करुणा की शक्ति भरपूर हो। सौरोकिन का यह सिद्धांत अलंकार के तौर से प्रस्तुत नहीं किया गया; उन्होंने अनुसंधान किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आज भी दुनिया में इस प्रकार के शीलवान व्यक्तियों की उपस्थिति समाज से ऊपर बिजली की तरह प्रभाव डालती है। ऐसे शक्तिपुंजों को काल नहीं मिटा सकता, उनके नाम भले ही भुला दे।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट स्वर का विधायक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
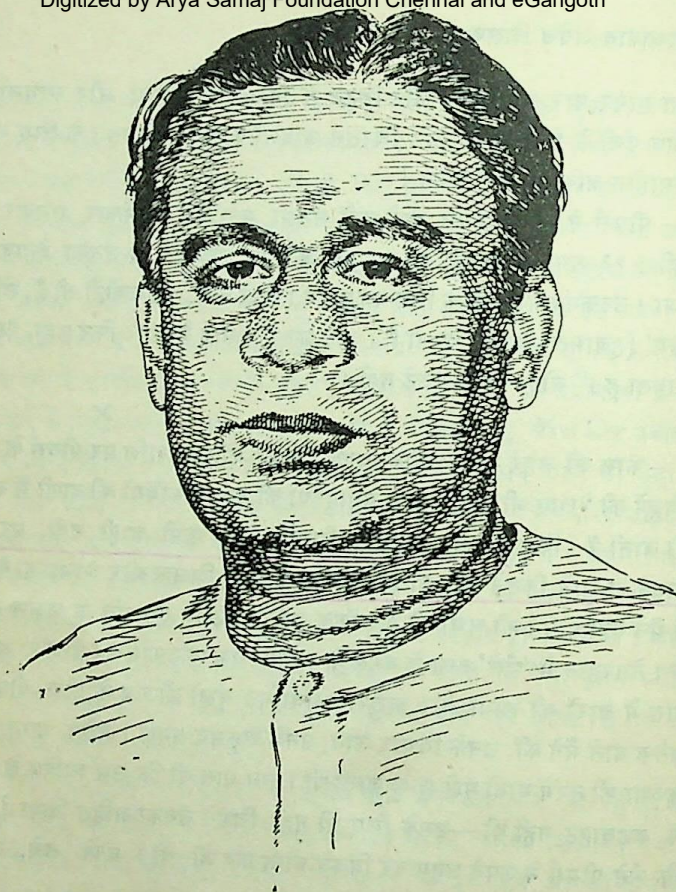
पन्नालाल घोष
(बांसुरीवादक और वाद्यवृंद-संयोजक)

जन्म : ३१ जुलाई, १६११ बरीसाल (पूर्वी बंगाल) में। बचपन से ही दो विपरीत कलाओं में अभि-रुचि—संगीत और व्यायाम। १६२८ में १७ वर्ष की आयु में कलकत्ता जाकर वहां ट्यूनवेल कंपनी, छापा-प्रेस तथा मोटर-मरम्मत के कारखाने में काम किया। इस बीच बॉक्सिंग सीखी और उसमें नाम पैदा किया। एक स्कूल में बॉक्सिग शिक्षक हो गए। संगीत का अभ्यास चलता रहा और बांसुरीवादन में कुशल हो गए। १६३५ में कलकत्ता में अखिल भारतीय म्यूज़िक कानफ्रेंस में बांसुरी पर प्रोग्राम प्रस्तुत किया। उसी वर्ष न्यू थिएटर्स फ़िल्म कंपनी में वंशीवादक नियुक्त हुए। १६३७ में उस्ताद ख़ुशी मुहम्मद अत्रे से हारमोनियम बजाने की शिक्षा ली, और तदनुसार बांसुरी पर अपनी कला को परिमार्जित किया। १९३८ में सरायकेला राज के छाउ नृत्यमंडल के संगीत-निर्देशक होकर यूरोप-यात्रा पर गये। लौटने पर १६३६ में गिरिजाशंकर चक्रवर्ती से शास्त्रीय संगीत सीखा। १६४० में बंबई पहुंचे और फ़िल्मों में संगीत निर्देशन करने लगे। इस बीच अनेक बार आकाशवाणी और म्यूज़िक कानफ्रेंसों के प्रोग्रामों में शामिल हुए। १६४७ में उस्ताद अलाउद्दीन खां के शिष्य बने। १६५६ में आकाशवाणी वाद्यवृंद, दिल्ली, के संयोजक के पद पर नियुक्त हुए।

मृत्यु : नई दिल्ली, २० अप्रैल, १६६०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो किसी अनहद नाद में अपनी बांसुरी के स्वर को लीन करके पन्नालाल घोष ने हठात अपनी इहलीला समाप्त कर दी।

२० अप्रैल, १९६० को आकाशवाणी के दिल्ली स्टेशन से उनका बांसुरीवादन होनेवाला था। २१ अप्रैल को आकाशवाणी की अखिल भारतीय कार्यक्रम परामर्शदायी समिति के सम्मुख वह आकाशवाणी वाद्यवृंद का प्रदर्शन करनेवाले थे और २२ अप्रैल की संध्या को राष्ट्रपति भवन में चाऊ-एन-लाई के सम्मान में संगीत-नृत्य समारोह में वाद्यवृंद प्रस्तुत करनेवाले थे। २० अप्रैल के सवेरे मेरे पास टेलीफ़ोन आया कि पन्नालाल घोष सहसा हृदय-गति रुक जाने के कारण चल बसे। कालदेवता के घोर गर्जन ने बांसुरी के स्वर को मौन कर दिया और हम ठगे-से रह गए।

अकसर हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के देहावसान से देश और समाज की महान् क्षति हुई है, चाहे हम जानते हों कि उस व्यक्ति की सामर्थ्य और प्रतिभा मृत्यु से बहुत पहले ही बुझ गई थी। काल एक पीले और सूखे पत्ते को उड़ा ले जाए, तो मलाल तो नहीं होता, अवसाद भले ही हो। लेकिन तड़ित की भांति क्रूर आघात कर, हरी-भरी और फल-पुष्प-संपन्ना शाखा को धराशायी करनेवाले काल को क्या कहें?

मृत्यु के समय पन्नालाल घोष की आयु ४९ वर्ष से भी कम थी। उनकी कला चरमोत्कर्ष पर थी; संगीत विधान के जो प्रयोग उन्होंने आकाशवाणी वाद्यवृंद पर करने प्रारंभ किए थे, उनमें वैसी ही सशक्त परंपरा के बीज विद्यमान थे, जैसी उन्होंने अपनी बृहदाकार बांसुरी पर विलंबित गति के आधार पर स्थापित की थी। अभिव्यक्ति और प्रेरणा के संगम को अनुभव की गहराई मिल चुकी थी और प्रतिभा उस स्तर पर पहुंच चुकी थी, जहां प्रारंभिक प्रयास की भीरुता कला को निर्बल नहीं कर सकती थी और न सूखते सोतों की धारा विकसते कला-क्षेत्र को निष्प्राण बना सकती थी। यदि दस बरस और मिलते तो आधुनिक भारतीय

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगीत की एक मंज़िल शायद पूरी हो सकती।

१९५६ में पन्नालाल घोष से मेरी पहली मुलाक़ात हुई, यद्यपि उनके प्रोग्राम तो मैं बहुत पहले से सुनता रहा था। आकाशवाणी वाद्यवृंद के निर्देशक और नियोजक के पद पर उनकी नियुक्ति के विषय में चर्चा करने के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया था। चित्रों से वह स्मितवदन, श्यामल और भरे शरीर के व्यक्ति जान पड़ते थे। मिलने पर उनको आपादमस्तक देखा—भारी-भरकम और मांसल होने के अतिरिक्त उनके खड़े होने की भंगिमा कुछ ऐसी थी कि मुझे शंका हुई कि वह संगीतज्ञ हैं या पहलवान।

बाद में मालूम हुआ कि वह दोनों ही रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। कलकत्ता में १९३० के आसपास पन्नालाल घोष अच्छे-खासे बॉक्सर माने जाते थे। कई प्रतियोगिताओं में शामिल हो चुके थे, इनाम पा चुके थे। उनके मुक्के की मार बचपन ही में प्रसिद्ध हो गई थी और उनके बालबंधु और निकट-संबंधी श्री अनिल बिस्वास का कहना है कि लड़कों की चंडाल-चौकड़ी में पन्नालाल का मुक्का ब्रह्मास्त्र-स्वरूप था, जिसका प्रयोग करने से उन्हें अकसर रोकना पड़ता था।

लेकिन चैंपियन बॉक्सर संगीत की ललकार को अनसुनी नहीं कर सका। कौटुंबिक परंपरा में संगीत की धरोहर थी, और लय और ताल से संपृक्त रक्त लहरें मार रहा था। बॉक्सर की मांसपेशियां कहां तक इन लहरों को रोक पातीं? पिता और दादा को तार-वाद्यों का शौक था; पन्नालाल ने बांसुरी उठाई।

श्यामल रंग और (उन दिनों) छरहरी कायावाले पन्नालाल को शायद कान्हा के वंशीवादन की पुनरुक्ति में अपने सपने साकार होते जान पड़े। लेकिन कृष्ण की बांसुरी तो करील के जंगलों में रमने वाले गोप-गोपियों को रिझा लेती थी; रास में थिरकनेवाले नूपुरों से भी अधिक द्रुत गति पर नाचती थी; उसका तीव्र और ऊर्ध्व स्वर लता-गुल्म और घने वृक्षों को चीरता हुआ भटकनेवाली गौओं को खींच लाता था। पर ग्वालों और भक्तों के अलावा संगीत कला के मर्मज्ञों और आभिजात्य संगीत के प्रेमियों के बीच बांसुरी को कौन पूछता था? पन्नालाल घोष ने तय किया कि लोकमानस की मराली रस-मर्मज्ञों की वाटिका की मयूरी बन जाए। उन्होंने बांसुरी को शास्त्रीय संगीत की वाणी बनाने की ठान ली।

ठान तो ली, लेकिन बांस की बांसुरी में शास्त्रीय संगीत की गरिमा वहन करने की सामर्थ्य ही कहां थी? उसके तीव्र और सतही स्वर में विलंबित के विस्तार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए गहराई कहां थी ? उन दिनों (शायद सन् १६३६-३७) पन्नालाल घोष ऑल इंडिया रेडियो के कलकत्ता स्टेशन पर मामूली वेतन पर स्टाफ़ आर्टिस्ट नियुक्त हुए थे। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान प्रारंभिक ही था। कलकत्ता स्टेशन पर प्रयोग के रूप में जंत्री-समाज के नाम से एक छोटा-सा आर्केस्ट्रा तैयार हुआ। उसके निर्देशक थे श्री एस० एल० दास। कुछ समय बाद एक अंग्रेज संगीतज्ञ श्री फोल्डज़ ने उस वाद्यवृंद में पाश्चात्य और भारतीय संगीत के कुछ मिले-जुले प्रयोग भी किए। श्री दास का ध्यान युवक कलाकार पन्नालाल घोष की उदीयमान प्रतिभा की ओर गया और उन्होंने पन्नालाल के सामने यह समस्या रखी कि बांसुरी को शास्त्रीय संगीत का उपयुक्त वाहन कैसे बनाया जाए। पन्नालाल ने सोचा कि क्यों न बांसुरी के आकार को दीर्घ बनाया जाए, जिससे गहरे और नीचे स्वर आसानी से निकल सकें। तभी पन्नालाल घोष ने उस बृहदाकार बांसुरी का उपयोग आरंभ किया, जो बाद में उनकी कला का अभिन्न अंग बन गई। उस बांसुरी में फूंकने के लिए मल्लशास्त्री पन्नालाल घोष के फेफड़े मज़बूत थे। उनके सजीले शरीर और गोलमटोल चेहरे पर यह लंबी बांसुरी खूब फबती थी।

शीघ्र ही उन्होंने इस नए रूप में बांसुरी पर अभ्यास आरंभ किया और श्रीगणेश हुआ राग मालकोंस से। पहले-पहल इसी राग में उन्होंने विलंबित खयाल की अभिव्यक्ति की, आलाप और तानों का विस्तार किया। प्रथम प्रयोग की सफलता से उन्हें प्रोत्साहन मिला और नियमवत अभ्यास चालू हो गया।

साथ ही कलकत्ता रेडियो स्टेशन के जंत्री-समाज में वाद्यवृंद के नए प्रयोग भी चलते रहे। श्री एस० एल० दास की तैयार की हुई अनेक धुनें उनके मन में बस गईं और उनसे पन्नालाल घोष ने वृंदसंगीत के निर्देशन की पद्धति भी सीखी। शीघ्र ही कलकत्ता के इस नवोदित कलाकार का नाम फैलने लगा।

सरायकेला के राजा द्वितीय महायुद्ध से कुछ समय पूर्व 'छाउ' नृत्य का प्रदर्शन करनेवाली एक मंडली को यूरोप ले गए। उन्हें एक वंशीवादक की ज़रूरत थी। पन्नालाल घोष चुन लिये गए और इस तरह शास्त्रीय संगीत के उपासक को कला-प्रदर्शन की नवीन पद्धतियों को देखने-सुनने का तो अवसर मिला ही, युवक पन्नालाल घोष के अनुभवों का क्षितिज भी फैला; उनके विचारों में लोच और विविधताओं का समावेश हुआ। फलस्वरूप उस कट्टरता से वह बच पाए, जो अकसर परंपरागत कलाओं के उपासकों पर हावी हो जाती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library Gurukula Kangri 185553

यूरोप से लौटने पर पन्नालाल घोष की प्रसिद्धि बढ़ने लगी। फ़िल्म-निर्माण का केंद्र कलकत्ता से हटकर बंबई चला गया था और पन्नालाल घोष अपनी क़िस्मत आज़माने बंबई चले गए। संगीत-सज्जा की जो नवीन विधियां उन्होंने विदेश में देखीं, उन्हें प्रयोग में लाने का थोड़ा-बहुत अवसर वहां उन्हें मिला। पन्नालाल घोष द्वारा नियोजित अनेक गीत फ़िल्मी दुनिया में लोकप्रिय हुए। उन गीतों का स्थापत्य और वाद्यों का गीत के साथ गुंफन ऐसी विशेषताएं थीं, जो सहज ही श्रोताओं को मोह लेती थीं।

आर्थिक कठिनाइयां तो दूर हो गईं, लेकिन शास्त्रीय संगीत की जो नींव कलकत्ता के रेडियो केंद्र में रहते हुए उन्होंने स्थापित की थी, उस पर मात्र फ़िल्मी संगीत का नाज़ुक बंगला खड़ा करके पन्नालाल घोष को संतोष कैसे हो पाता? उस बुनियाद पर तो एक ऐसा गौरवपूर्ण देवालय बनना था, जिसमें परंपरा का विराट तत्व भी हो और नक्काशी भी, जो छोटे-से-छोटे रत्नों पर गढ़ी जा सके और जिसकी बारीकी और सफ़ाई पारखियों को चकाचौंध कर दे। फ़िल्मी दुनिया में अनवरत धन-संग्रह के आकर्षण के बावजूद बांसुरी को शास्त्रीय संगीत का माध्यम बनाने का जो व्रत उन्होंने लिया था, उसे वह भूल न सके। उस्ताद अलाउद्दीन खां के चरणों में जा बैठे। उस्ताद अलाउद्दीन खां आशुतोष हैं और फिर पन्नालाल घोष की प्रतिभा और उत्कट संगीत-साधना में उन्हें एक आदर्श शिष्य के चिह्न दीख पड़े। हर तीन-चार महीने बाद पन्नालाल घोष मैहर जाते और उनके निर्देशन में लगातार घंटों बैठकर अभ्यास करते।

बांस की बांसुरी के अंतस्तल में छुपे अनेक गहन और मंथन स्वर अनावृत होने लगे। शिल्प की जिन बारीकियों को बांसुरी पर उतारने की कल्पना भी नहीं हो पाई थी, वे पन्नालाल घोष ही के वादन में प्रस्फुटित होने लगीं और इस तरह आधुनिक भारतीय संगीत में बांसुरी की एक नई शैली का विधान हुआ। जंगलों में गूंजनेवाली वंशी परिमार्जित रुचि-संपन्न नागरिक रसिकों के प्रकोष्ठों में सम्मानित होने लगी। एक और प्रतिभावान कलाकार इस युग में भारतीय संगीत को ऐसी ही अनुपम देन दे रहा था; यह भी एक चमत्कार ही था कि इसी युग में बिस्मिल्लाह खां ने इसी भांति शहनाई को लगभग उन्हीं दिनों आभिजात्य वाद्यों की श्रेणी में ला बिठाया, जिन दिनों पन्नालाल घोष बांसुरीवादन को परिमार्जित रूप दे रहे थे।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के व्यक्तित्व में एक और समानता मैंने पाई। ऐसा जान् पड़ता है कि आधुनिक भारतीय संगीत के इतिहास में अपने महत्त्वपूर्ण स्थान का कोई गुमान इन दोनों को नहीं रहा। मैं दो-चार ऐसे कलाकारों से परिचित हूं, जो अपनी बातचीत के ढंग, भौंहों के उठान, होंठों के तनाव और शब्दों के आड़े-तिरछे पैंतरों द्वारा आप पर यह ज़ाहिर करने से नहीं चूकते कि आप किसी महान हस्ती के सामने खड़े हैं। लेकिन पन्नालाल घोष और बिस्मिल्लाह खां महत के गोवर्धन को मानो गिरिधर की भांति कनिष्ठिका पर सम्हाले हों। जब सन १९५७ में पहली बार मुझसे मिले, तो मैं कुछ विस्मित-सा रह गया; न प्रभावित करने को आतुर वाचालता और न रोब जमानेवाला कृत्रिम मौन! सहज भाव, सहज मुस्कान, सहज वाणी! निस्संदेह उस सहज व्यक्तित्व का स्रोत किसी अजस्र शालीनता में था।

शायद इसी शालीनता के कारण शास्त्र में पारंगत होते हुए भी पन्नालाल घोष कट्टर नहीं थे। आकाशवाणी का वाद्यवृंद भारतीय संगीत परंपरा में एक ऐसा प्रयोग है, जिसके बारे में अकसर शंकाएं उठाई जाती हैं। १९५८ में संगीत-शास्त्रियों की इन शंकाओं को दूर करने के लिए वाद्यवृंद के दोनों निर्देशकों (श्री जयराम अय्यर और श्री पन्नालाल घोष) ने आकाशवाणी की संगीत परा-मर्शदात्री समिति के विद्वान सदस्यों की उपस्थिति में वाद्यवृंद पर कई रचनाएं प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि यह प्रयोग भारतीय संगीत की परंपरागत विशुद्धता का लेशमात्र भी उल्लंघन नहीं करता। शास्त्रीय नियमों के प्रति वफ़ा-दारी रखते हुए भी पन्नालाल घोष साधारण व्यक्तियों द्वारा दिये गए सुझावों पर सोच-विचार करने के लिए तैयार रहते थे। वाद्यवृंद को कभी-कभी राष्ट्रपति भवन में विदेशों से आये हुए विशेष मेहमानों को भारतीय संगीत की झांकियां देनी होती हैं। मैंने कहा कि ऐसे अवसरों के लिए तो पांच-छः मिनट की अवधि की लघु रचनाएं चाहिएं। लंबी रचनाओं से मेहमान उकता जाते हैं। पन्नालाल घोष को यह बात ठीक जंची और उन्होंने कई हृदयग्राही लघु रचनाएं तैयार कीं। इसी तरह एक बार मैंने ज़िक्र किया कि पाश्चात्य वाद्यवृंद अकसर विलंबित गान के उठान द्वारा गतिहीन-सा वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं, जब हम लोगों की शास्त्रीय रचनाएं भी अधिक चपल और द्रुतगामिनी जान पड़ती हैं। उन्होंने खास तौर से कुछ विलंबित-प्रधान रचनाएं भी तैयार कीं। चेकोस्लोवाकिया के स्मटन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वार्ट्रेट (जिसमें वायलिन-कुटुंब के चार वाद्यों का अनुपम सम्मिलित संगीत होता है) को सुनने का मैंने उनसे विशेष आग्रह किया और पूछा कि सारंगी का क्वार्ट्रेट भी तैयार हो सकता है या नहीं। कुछ समय बाद उन्होंने श्री शकूर खां, श्री साबरी खां और दो अन्य सारंगीवादकों को विशेष निर्देशन देकर एक बिलकुल नई रचना तैयार की।

छोटी-छोटी बातों में भी कट्टरता का अभाव मैंने उनमें पाया। कुछ महीने हुए, मैंने उन्हें बताया कि कुछ लोग यह पसंद नहीं करते कि भारतीय संगीत के वाद्यवृंद का निर्देशक सामने खड़ा होकर पाश्चात्य निर्देशकों की भांति हाथ हिला-हिलाकर निर्देशन करे। उन्होंने अपनी कठिनाइयां बताईं, लेकिन इस सुझाव पर विचार करने का आश्वासन दिया। कुछ समय बाद उन्होंने वाद्यवृंद के बैठने का एक नया नक़शा भी तैयार किया।

चूंकि मेरा और पन्नालाल घोष का अफ़सरियत का भी नाता था, इसलिए कुछ लोग सोच सकते हैं कि शायद मुझे खुश करने की खातिर वह मेरे अनाड़ी सुझावों को भी महत्त्व देते हों। लेकिन बात ऐसी नहीं है। खुशामद की प्रवृत्ति पन्नालाल घोष में थी ही नहीं। लेकिन अहम्मन्यता और उच्छृंखलता भी उन्हें छू नहीं गई थी। विचार-स्वातंत्र्य के नाम पर जान-बूझकर अक्खड़पन दिखाना अनेक कलाकार और साहित्यकार अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। पन्नालाल घोष की जन्मजात मृदुलता इस तथाकथित जन्मसिद्ध अधिकार के विपरीत थी। अहर्निश एक सहज मुस्कान उनके चेहरे पर खेलती रहती थी और उस समय भी जब वह अपने डीलडौल के साथ, काली शेरवानी और सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा पहने, विशाल जन-समूह के सामने वाद्यवृंद का निर्देशन करते, तब भी इसी मुस्कान की छवि में वह हमें एक निश्छल शिशु-से जान पड़ते। यही वह मुस्कान थी, जो २० अप्रैल, १६६० को उनके प्राणहीन मुखड़े पर मैंने देखी—निस्संग, निर्लिप्त, परमहंस-सुलभ मुस्कान!

बाद में एक मित्र ने मुझे बताया कि पन्नालाल घोष पिछले दिनों सहजभावेन पारलौकिक प्रेरणाओं की ओर अभिमुख हुए थे और रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों का शिष्यत्व अंगीकार कर चुके थे।

शायद उसी अनहद नाद ने उन्हें शाश्वत मुस्कान दी, और उसी की प्रतिध्वनि उनकी निराली बांसुरी में गूंज उठी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहारकुशल और संवेदनशील पंडित

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
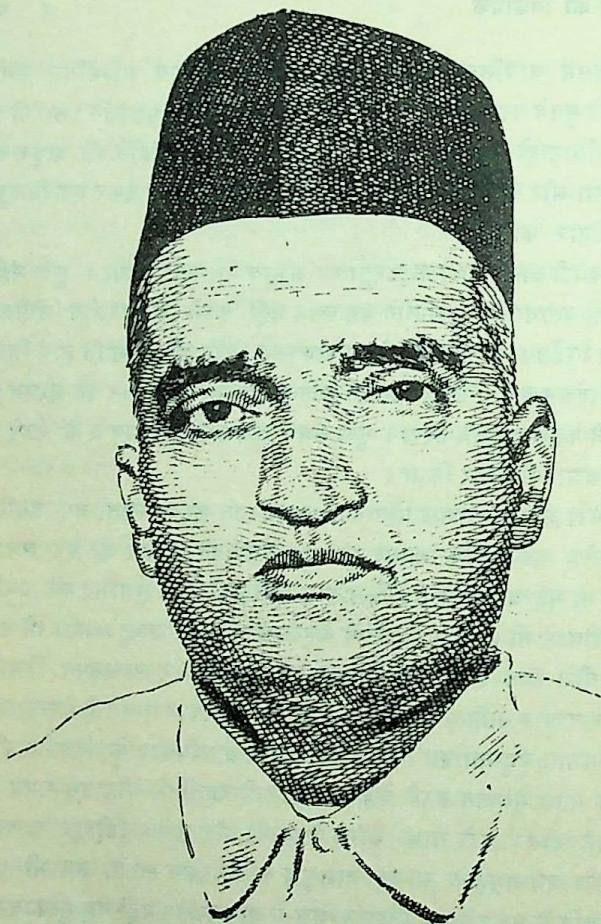
अनंत सदाशिव अल्टेकर
(इतिहासज्ञ और पुरातत्ववेत्ता)

जन्म : ३० अगस्त, १८९८। शिक्षा पूना में। दकन कालेज में उच्च शिक्षा। सन् १९३० से १९४९ तक काशी विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग के आचार्य और अध्यक्ष रहे। १९४९ में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग के अध्यक्ष और बाद में काशीप्रसाद जायसवाल अनुसंधान प्रतिष्ठान के प्रथम डायरेक्टर नियुक्त हुए। इस बीच अनेक संस्थाओं से संबंध रहा, यथा न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी (सिक्कों के अनुसंधान से संबंधित संस्था) की मुखपत्रिका के संपादक, अखिल भारतीय ओरिएंटल कानफ्रेंस के उप-सभापति, इत्यादि। रचनाएं : 'हिस्टरी ऑफ़ विलेज कम्युनिटीज़ इन वेस्टर्न इंडिया', 'एजुकेशनल पोज़िशन ऑफ़ विमेन इन हिंदू सिविलिज़ेशन', 'दि गुप्ता कॉइन्स', इत्यादि।

मृत्यु : १९५९।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग प्रायः कहते हैं कि पंडित को दुनिया की सुध नहीं होती, मनीषी और अनुसंधानरत विद्वान प्रबंध के पचड़े में या तो पड़ना ही नहीं चाहते, या पड़े तो सफल नहीं हो पाते। डॉ० अल्टेकर इस धारणा के अपवाद थे। जायसवाल इंस्टिट्यूट के प्रारंभिक दिनों में अनेक ढंग की काग़ज़ी कार्रवाई करनी पड़ी। कैसे कर्म-चारियों की नियुक्तियां की जाएं, सरकारी रुपए की निकासी और व्यय के नियम क्या हों, मेज़-कुरसी की खरीदारी के लिए व्यवस्था कैसी हो, खुदाई पर काम करनेवाले मज़दूरों के दैनिक वेतन के लिए क्या प्रबंध हो, प्रबंध-समिति के अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण किन सिद्धांतों पर हो—इत्यादि-इत्यादि। पटना सेक्रेटेरियट में मेरे कमरे में अनेक बार इन विषयों पर डॉ० अल्टेकर से चर्चा हुई और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इन सभी प्रशासनिक और व्यवस्था-संबंधी मामलों में डॉ० अल्टेकर की सूझ पैनी थी और तथ्य की पकड़ वह उसी आसानी से कर लेते थे, जितना कोई अनुभवी सरकारी अफ़सर कर सकता है। सरकारी नियमों के अटपटेपन को वह शीघ्र ही समझ गए और इस-लिए उतावली उन्होंने शायद ही कभी दिखाई हो। यह बात नहीं कि उन्हें सरकारी मामलों और दफ़्तरों की गतिविधि से असंतोष नहीं होता था; किंतु एक व्यवहार-कुशल व्यक्ति की भांति वह अपने असंतोष को बेताबी या अतिरंजना के साथ प्रकट नहीं करते थे। अकसर प्राचीन इतिहास से उक्ति या उदाहरण देकर वह सरकारी लाल फ़ीते के विरुद्ध शिक़ायत मेरे सामने प्रस्तुत करते थे; उसमें व्यंग्य होता था, हलकी-सी चोट भी, लेकिन रोष या राग का पूर्ण अभाव! मैंने उन दिनों ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि अनुसंधान-संस्थाओं के डाइरेक्टरगण बिना किसी व्यवधान के सीधे शिक्षा-सचिव से पत्र-व्यवहार और बातचीत कर सकते थे। इस तरह बहुत-सी छोटी-मोटी समस्याएं सहज ही हल हो जाती थीं।

कई बार डॉ० अल्टेकर से संस्था की प्रबंध-संबंधी व्यवस्था के बारे में मतभेद भी हुआ, किंतु अपने मन के विपरीत सरकारी आदेशों का डॉ० अल्टेकर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकुंठित भाव से पालन करते थे। राहुलजी द्वारा बिहार म्यूज़ियम को प्रदत्त तिब्बती पांडुलिपियों का संपादन और प्रकाशन वह जायसवाल इंस्टिट्यूट से ही कराना चाहते थे। मैंने कहा कि नालंदा इंस्टिट्यूट विशेषत: बौद्ध साहित्य और अनुसंधान के लिए स्थापित हुआ है और इसलिए इन पांडुलिपियों के संपादन और प्रकाशन में नालंदा इंस्टिट्यूट के विद्वानों का भी सहयोग होना चाहिए। इस व्यवस्था में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां थीं, किंतु डॉ० अल्टेकर प्रयोग के लिए प्रस्तुत हो गए। अंतत: व्यावहारिक कठिनाइयों के विषय में डॉ० अल्टेकर का अनुमान ही सही निकला और हम लोगों ने इन ग्रंथों के संपादन और प्रकाशन का उत्तरदायित्व जायसवाल प्रतिष्ठान को ही सौंपा।

आजकल भारतीय विश्वविद्यालयों में वरिष्ठ अध्यापकों के दो वर्ग दीख पड़ते हैं—एक तो वे विद्याव्यसनी पंडित, जो अपने विभाग की साधारण प्रशासनिक उलझनों से भी दूर रहना चाहते हैं और यदि उनमें हाथ लगाते हैं, तो क्षत-विक्षत होकर ही निकल पाते हैं; और दूसरे वे प्रबंधपटु व्यवहारकुशल सज्जन, जिनका विद्यार्जन एक ऐसी नसैनी मात्र था, जिसकी अब उन्हें ज़रूरत नहीं है। इस दूसरे वर्ग की प्रबंधपटुता अकसर चाणक्य-प्रवृत्ति का रूप लेती है और अनेक विश्वविद्यालयों और शिक्षा-संस्थाओं में इन्हीं महानुभावों का बोलबाला है। डॉ० अल्टेकर काशी विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय दोनों में उत्तरदायित्व-पूर्ण पदों पर रह चुके थे। उनकी प्रबंध-पटुता नैसर्गिक थी। लेकिन आश्चर्य यही था कि अपने व्यवहारकौशल को वह कूटनीति और कुचक्र-चातुर्य की परिधि से परे रख पाते थे। उनका सारा अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान उनके इतिहास-विभाग की सुचारु प्रगति और प्रबंध के काम आता था और ऐसा जान पड़ता है कि ज्यों ही परिस्थितियां उन्हें गुटबंदी अथवा शक्ति-संतुलन के निकट ले जाती थीं, त्यों ही वह किसी अज्ञात किंतु बलवती प्रेरणा से अभिभूत होकर तुरत पीछे हट जाते थे।

ऐसा हम लोगों का—बाहर से उनके संपर्क में आनेवालों का विचार था। पटना विश्वविद्यालय की सीनेट की सभाओं में उन्हें मैंने बहुत कम बोलते देखा। अध्यापकों का कोई भी दल उन्हें अपना घोषित नहीं कर पाता था। दलबंदी के व्यापक वातावरण में अनेक के लिए वह पहेली-सी बने रहे। क्या बात थी कि ऐसा व्यक्ति, जिसमें नेतृत्व के यथेष्ट गुण विद्यमान थे, जो व्यावहारिक कठिना-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इयों से क्षुब्ध होना जानता ही नहीं था, जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सुस्पष्ट पथ-नियोजन करने का आदी था—ऐसा बुद्धिमान, सिद्धहस्त विद्वान विश्वविद्यालयों की 'राजनीति' में नगण्य बना रहा—न शक्ति-संचालन करनेवाला सूत्रधार बना और न परिष्कारोन्मुखी सुधारक ?

मैंने ऊपर बलवती अज्ञात प्रेरणा का ज़िक्र किया है, जो उन्हें चाणक्य-विधान के तट से ही खींच लेती थी। लेकिन गहराई से सोचने पर जान पड़ता है कि यह कोई अज्ञात प्रेरणा नहीं थी। यह तो उनकी कार्यपद्धति की आधारभूमि थी। आकांक्षाओं के अभिशाप से उन्मुक्त किसी संत की चर्चा मैं नहीं कर रहा हूं; अल्टेकर निर्विकार, निर्लिप्त साधक नहीं थे और न अधिकार-शक्ति की लालसा से उन्हें रोकनेवाली अंतःप्रेरणा कोई दैवी आवाज़ ही थी। असल में वह एक ऐसे अनुभवी पर्यटक की भांति थे, जो अपने निर्दिष्ट मार्ग का नक़्शा पहले से बना लेता है, जानता है कि कौन से मोड़ उसे लेने हैं, क्या पाथेय बदलती जलवायु में उपयुक्त होगा, किन सरायों में उसे रात बितानी है, किन अट्टालिकाओं की छवि का उसे अवलोकन-मात्र करना है और किनका सिलसिलेवार अध्ययन। मैंने उनके अनेक नोट्स देखे थे; अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग कापियां। जो पुस्तकें पढ़ते, उनका सार और उद्धरण विषयानुसार कापियों पर लिख लेते। कर्मठ व्यक्ति के लिए जीवन का पथ उतना लंबा नहीं होता, जितना लक्ष्यहीनों के लिए। इस छोटी-सी राह में कुंठाओं के लिए स्थान कहां ? तो फिर जो नक़्शा अपने लिए बनाया, उसका अनुसरण ही श्रेयस्कर है; कुंठाओं को आमंत्रित ही क्यों किया जाए ? सिक्कों का अध्ययन, ग्रंथ-रचना, अध्यापन, खुदाई, न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी तथा जायसवाल इंस्टिट्यूट का निर्देशन—क्या ये चुनौतियां काफ़ी नहीं थीं एक जीवन की नन्ही-सी ढाल-तलवार के लिए, जो अधिकार-लालसा के विकराल संघर्ष-क्षेत्र का आह्वान किया जाता ? दलील मुनासिब थी और एक व्यवहारनिपुण व्यक्तित्व के लिए सर्वथा युक्तिसंगत। विवेक और व्यावहारिकता के आधार पर ही उन्होंने अपने लिए एक लक्ष्मण-रेखा निर्धारित की, अविचलित भाव से उसका पालन किया और इस तरह अध्ययन-मनन-अनुसंधान की पावन सीता को दुर्दांत आकांक्षा की आसुरी वृत्ति द्वारा अपहृत न होने दिया।

शायद मैं व्यावहारिकता की बार-बार दुहाई देकर डॉ० अल्टेकर के व्यक्ति का एकांगी दर्शन कर रहा हूं। क्या नियोजित कार्य-पद्धति और बुद्धिपरक व्यवहार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अंगीकृत कर अल्टेकर भावुक और संवेदनशील क्षणों की महिमा से अपरिचित रह गए ? ऊपरी तौर से उनके व्यक्तित्व में भावना के प्रवाह और उल्लास की लहरियों के लिए स्थान ही नहीं जान पड़ता था। नपी-तुली बातचीत, समय का न सिर्फ़ सदुपयोग, बल्कि मितव्ययतापूर्वक 'राशनिंग', निरर्थक पिष्टपेषण का निर्मम होकर परित्याग, इन नियमों से परिवेष्टित उनका संतुलित व्यक्तित्व कल्पना और भावना की भूलभुलैया से अछूता जान पड़ता था। कानफ्रेंसों में शामिल होने के लिए वह कभी-कभी दिल्ली आया करते थे और उनके दिल्ली-प्रवास के कार्यक्रम में मेरे साथ बातचीत और कभी-कभी भोजन हमेशा शामिल रहता। अपने दफ़्तर और 'रूटीन' के जीवन में विद्वानों, साहित्यकारों एवं कलाकारों से मुलाक़ातों का सुयोग मुझे मरुभूमि में हरियाली के तुल्य सम्मोहक और पोषक जान पड़ता है और इसीलिए ऐसे मौकों पर मैं समय की परिधियों को तिलांजलि दे, विचार-विनिमय के स्रोत से प्रवाहित धारा की भंवरों में भ्रमित होने में विशेष सुख का अनुभव करता हूँ। प्रायः मेरे अतिथियों को भी यह गतिशील वातावरण रुचता है। डॉ० अल्टेकर के सत्संग-रूपी हरियाली के लिए मैं उत्सुक रहा करता। उन्होंने मुझे कभी निराश नहीं किया। लेकिन मेरे समय का ध्यान उन्हें मुझसे ज़्यादा होता। काम की बातचीत करते; अगर मैं पूछता, तो भी व्यक्तियों के चरित्र और व्यवहार पर टीका-टिप्पणी शायद ही कभी करते। दो-चार सरस वचन, अल्प भोजन और फिर उनका 'ब्रीफ़ केस' बगल में होता और चरण कानफ्रेंस-हॉल की ओर बढ़ते। और मैं सोचता रह जाता कि क्या उस अंबुधि के अंतस्तल में उल्लास की तरंग कभी उठती भी है या नहीं !

लेकिन मैं ग़लती पर था। डॉ० अल्टेकर का मानस आलोड़ित होते मैंने देखा है। उस आलोड़न के प्रभाव में उनके समूचे व्यक्तित्व को प्रदीप्त और चलायमान होते भी मैंने देखा है और यह चमत्कार कब होता था ? क्या किसी अंतर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय संकट के समय ? जी नहीं। क्या अपने बच्चों के विवाह-लग्न इत्यादि के अवसर पर ? तब भी नहीं। संतुलन और संयम की जंजीरें दो टूक होते मैंने देखीं उस दिन, जब वह मुझे वैशाली में अपने निर्देशन में की गई खुदाई के स्थान दिखाने ले गए, और सदियों पहले की एन० बी० पी० पॉटरी, खिलौने, आभूषण इत्यादि संवार-संवारकर दिखाने लगे। जिस समय हम लोग उस स्थान पर पहुँचे, जहां उन्होंने चीनी यात्रियों के विवरण और अन्य प्राचीन वृत्तांतों का

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्योरेवार विश्लेषण कर भगवान बुद्ध की अस्थियों पर निर्मित प्राचीनतम स्तूप का काल के विस्मृत गह्वर में से अनावरण किया था, तब मुझे लगा, मानो जीवन-भर का संतुलन उसी उल्लास के लिए तैयारी था, मानो किसी लंबे शिशिर के शक्ति-संचय के उपरांत ऋतुराज का वैभव बिखरा हो। उनकी आंखों में चमक थी और उनकी वाणी पांडित्य के स्तर से ऊपर उठकर मानो अपरा विद्या के लोक में विचरण कर रही थी।

उन्होंने अपने जीवनकाल में कितने ही अनुसंधान किए, इतिहास के कितने ही अजाने कोष्ठों को ज्योतित किया। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति और प्राचीन भारत में स्त्रियों की परिस्थिति का विश्लेषण, वाकाटकों के काल में भारत का दिग्दर्शन, प्राचीन युग में पंचायत और ग्राम-प्रणाली का अध्ययन, लगभग बारह वर्ष तक जर्नल ऑन न्यूसिस्मेटिक सोसाइटी द्वारा प्राचीन मुद्राओं पर प्रकाश और विशेषत: बयाना की गुप्त मुद्राओं की अतुल राशि का सिलसिलेवार और आद्योपांत विवरण—ये सब कार्य एक विद्वान के आजीवन अध्यवसाय के लिए पर्याप्त थे। लेकिन लेखनी, पांडुलिपियों और सिक्कों के अभ्यस्त हाथ जब फावड़ा लेकर धरती के रहस्यों का उद्घाटन करने को बढ़े तो एकबारगी मुझे उनकी क्षमता में संदेह हुआ। दबी ज़बान से मैंने सुझाव दिया कि क्यों न पुरातत्व विभाग से किसी दक्ष और अनुभवी खुदाई-विशेषज्ञ को जायसवाल इंस्टिट्यूट के लिए बुला लिया जाए! जिस दृढता के साथ उन्होंने इस सुझाव का विरोध किया, उसके पीछे थी न केवल उस चुनौती का मुक़ाबला करने की उत्कट इच्छा, बल्कि था अपनी अनुसंधान-साधना के ऊर्ध्वमुखी सोपानों के अंतिम और चरम सोपान का आह्वान! स्पूनर और ब्लाख के चालीस-पचास बरस बाद, पाटलिपुत्र के भूगर्भ-स्थित ध्वंसावशेष फिर से अनावृत हुए और अशोक के राजप्रासाद के निकट ही 'आरोग्य-विहार' प्रकाश में आया। और फिर वैशाली में मिट्टी के प्राचीन स्तूप में वह पेटिका मिली, जो राजसौधों की सुवर्णमंडित मंजूषाओं से भी अधिक मूल्यवान हैं।

हम दोनों वैशाली की अभिषेक-पुष्करिणी के किनारे उस स्तूप के निकट खड़े थे। मेरे पास टेपरेकर्डर था; मैं उनसे सवाल पूछता और वह उत्तर देते। कैसे लिच्छवियों के पशुबलि-मंदिर के ऊपर ही कदाचित यह स्तूप बना, लिच्छवियों को भगवान बुद्ध के अस्थिखंड कैसे प्राप्त हुए, अशोक ने उसमें से कुछ अंश क्यों निकाले, कनिष्क ने स्तूप को खोलने की चेष्टा की ओर कैसे एक सुरंग बनाई, कच्चे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तूप के ऊपर किस तरह एक के बाद एक पक्की ईंटों के बाहरी स्तूपों का निर्माण हुआ ? जैसे कोई परियों और शहज़ादियों की कथा सुनाते-सुनाते उसी काल्पनिक लोक में खो जाए—ऐसी भंगिमा थी डॉ० अल्टेकर की ! वह संवाद आकाशवाणी के टेपों पर अंकित है।

और इस तरह डॉ० अल्टेकर के व्यक्तित्व की अंतःसलिला धारा की झलक मुझे मिली। किस तरह व्यावहारिक बुद्धि के नीचे वह भावुकता की मधुरिमा को संजोए रखे हुए थे, इसका एक और उदाहरण याद पड़ता है। मैं अकसर ताज्जुब करता था कि डॉ० अल्टेकर ने अपने सभी ग्रंथ भारतवर्ष में ही क्यों छपाए। आखिर उनकी इतिहास-विषयक रचनाएं विश्ववंद्य थीं। हमारे अन्य सभी विद्वानों ने एक-न-एक पुस्तक तो विदेश में प्रकाशित कराई ही है, क्योंकि सब जानते हैं कि इंगलैंड या अमरीका में प्रकाशित अंग्रेज़ी ग्रंथों की जो प्रतिष्ठा होती है, वह भारतवर्ष में प्रकाशित ग्रंथों की नहीं। व्यावहारिक बुद्धि-संपन्न अल्टेकर क्या इस मोटी बात को नहीं समझ सके ? मैंने एक बार उनसे इस बारे में पूछा। बोले, "माथुर साहब, बहुत पहले राष्ट्रीयता का दौर जब नया था, तभी मैंने यह संकल्प किया था कि इंगलैंड में अपनी पुस्तकें नहीं छपाऊंगा। आखिर इतने लोग विदेशी कपड़े का बहिष्कार कर खादी को अपना रहे थे ! मैं अपने ग्रंथों को तो कम-से-कम देशी रूप दे सकता था। अब परिस्थिति बदल गई है, लेकिन जीवन के प्रभात में किये गए संकल्प को संध्या के आते कैसे तोड़ दूं ?"

संध्या आई, लेकिन कब, यह हम लोगों को, जो उनसे प्रायः मिलते रहते थे, ज्ञात ही नहीं हुआ। चरण थके नहीं, मन की गति शिथिल नहीं हुई, अतृप्त अभि-लाषाओं और पछतावे की लंबी होती हुई छाया कर्मठता की हरीतिमा पर आवृत नहीं हुई। इसीलिए ढलती सांझ का आभास कैसे होता ? लगन और मनोयोग की पुष्ट प्राचीर बुढ़ापे और शैथिल्य के आक्रमण से अल्टेकर के व्यक्तित्व को सुरक्षित रख सकी। इसलिए काल की हिम्मत ही न हुई कि सामने से चुनौती दे। उसने पीछे से वार किया। भारतीय इतिहास परिषद के सभापतित्व से दिए जानेवाले भाषण को एक रात पहले एकाग्रतापूर्वक तैयार कर रहे थे। उसके बाद ही हठात आघात हुआ और विदा की घड़ी आ गई।

कर्मक्षेत्र का वह योद्धा शायद ऐसी वीरगति की ही कामना कर रहा था।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
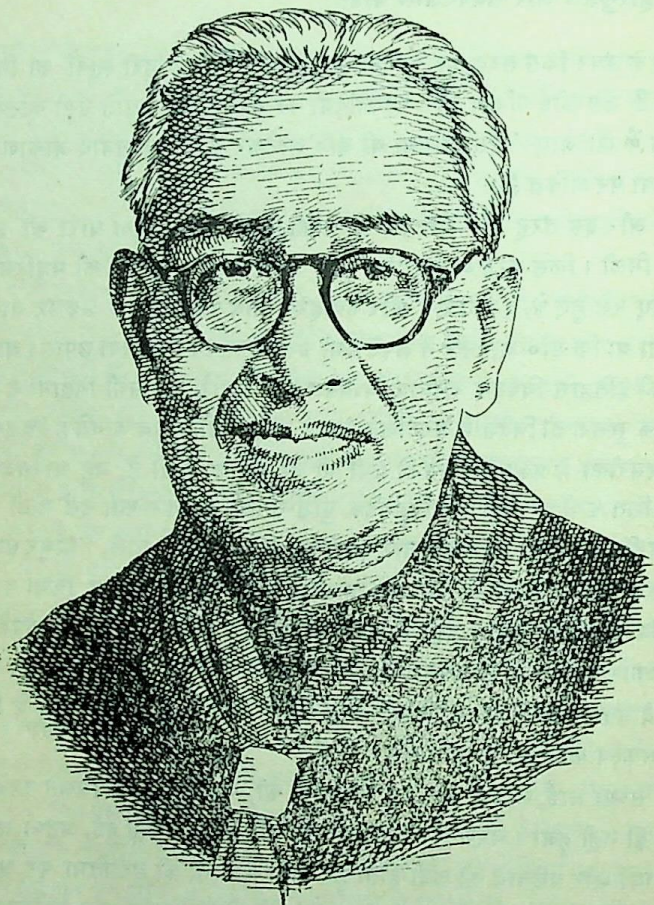
किशोर-जीवन की मुस्कान ही जिसकी साधना थी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीराम बाजपेयी

(भारत में बालचर-संस्था के उन्नायक)

जन्म : शाहजहांपुर (उत्तर प्रदेश), ११ अगस्त, १८७६। सन १६०५ से १६१३ तक शाहजहांपुर, बलरामपुर, प्रयागपुर और फैज़ाबाद में गवर्नमेंट हाई-स्कूलों में अध्यापक रहे। सन १६१३ में शाहजहांपुर के रेलवे इंजीनियरिंग ऑफ़िस में क्लर्क नियुक्त हुए। एक रद्दी कागज़ में इंगलैंड के स्काउटिंग आंदोलन का हाल पढ़कर १६१३ के सितंबर मास में पहला स्काउट-दल 'बाल-सेवक दल' के नाम से शाहजहांपुर में स्थापित किया। १६१८ में अपने बाल-सेवक दल को कुंभ मेला, प्रयाग ले गए, और वहां पं० मदनमोहन मालवीय के संपर्क में आकर अखिल भारतीय सेवा-समिति के अंतर्गत उसी वर्ष 'सेवा समिति बॉय-स्काउट एसोसिएशन' की स्थापना की। १६२१ में बेडन पॉवेल के भारत-आगमन के उपरांत बाजपेयीजी स्काउटिंग की ट्रेनिंग प्राप्त करने इंगलैंड के गिलवैल पार्क गये और अन्य यूरोपीय देशों की भी यात्रा की। १६२२ में सर्वेंट्स ऑफ़ इंडिया सोसाइटी के स्थायी सदस्य बने। १६२६ में दूसरी यूरोप-यात्रा। १६३८ मे सेवा समिति स्काउट एसोसिएशन का 'हिंदुस्तान स्काउट एसोसिएशन' के रूप में पुनर्गठन। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सन् '५० में समस्त स्काउटिंग संस्थाओं को मिलाकर 'भारत स्काउट्स एंड गाइड' नामक संस्था का आयोजन, बाजपेयीजी जिसके नेशनल ऑर्गनाइज़िंग कमिश्नर बनाये गए। १६५१ और १६५५ में आस्ट्रिया और कनाडा में विश्व-स्काउट जंबूरियों में भारतीय स्काउट दल के नेता के रूप में शामिल हुए।

मृत्यु : प्रयाग में, ६ जनवरी, १६५६ ई०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

चुपचाप सरकते हुए बादलों के पीछे अदृश्य चांद जैसे एक लहमे के लिए अपने पूरे आकार और आभा की झलक दिखाकर फिर लुप्त हो जाता है, ऐसे ही मेरी दैनिक-चर्या और अनुभवों की आड़ में से कभी-कभी बहुत पहले की दो-चार लघु स्मृतियां उभर आती हैं—लघु इतनी कि किसी को कैसे सुनाऊं, क्या सुनाऊं, लेकिन उजली और स्पष्ट, भोर के मौन को तोड़नेवाले पंछी के स्वर की तरह।

उन्हीं में से एक स्मृति है। एक बड़ा हॉल, उसके किनारे एक बड़ा मंच, उस पर मैं खड़ा हूं—पांच वर्ष का बच्चा! नन्हे स्काउट (कब) की पोशाक में; लाठी को दोनों टांगों के बीच घोड़े की तरह रखकर एक कविता सुना रहा हूं—"कैसा मेरा अड़ियल घोड़ा।" शब्दों में तुतलाहट है, लेकिन बेधड़क बोल रहा हूं। थोड़ी देर बाद एक भव्य पुरुष—गौर वर्ण चेहरा, जिससे ममत्व और शालीनता टपक रही थी, पोशाक स्काउट की, कद लंबा—लेकिन मेरे निकट आकर नीचे झुके और मुझे जान पड़ा कि किसी बहुत ऊंचे वृक्ष की उच्चतम शाखा मेरी खातिर नीचे झुकी; फूलों की वाणी में वह गगनस्पर्शी तरु मेरे कानों में कह रहा था, "शाबाश, बच्चे! ऐसे ही बेधड़क और मीठी बोली बोला करो!···यह लो, तुम्हारा इनाम! इस पुस्तक की तसवीरों को ध्यान से देखना, क्योंकि तुम्हारे पिता की तरफ़ से यह इनाम तुम्हें दे रहा हूं।"

यह शायद सन १९२१ की बात है, लेकिन किन्हीं सलौने हाथों में लगी मेंहदी की तरह मन से छूटती ही नहीं।

बहुत दिन बाद, सन १९४७ में, मैं बिहार के गया ज़िले का कलक्टर था। अपने बंगले के दफ़्तर में उस कुरसी पर बैठे हुए मुलाक़ातियों को निपटा रहा था, जिस पर किसी समय ग्रियर्सन ने हुकूमत भी की थी और भाषा-विज्ञान का भंडार भी भरा था। आज़ादी को आए कुछ महीने हो चुके थे (मैंने १४ अगस्त को चार्ज

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया था), लेकिन उस वक़्त तक कलक्टरों के रौब और दस्तूर में कोई अंतर नहीं आया था। गणतंत्र की छाप लगने में कुछ देर थी। सरकारी काम से मिलने के इच्छुक मुलाक़ातियों का समय निश्चित था और बाहर बरामदे में कुरसियों और बेंचों पर वे बैठते। नाम-लिखी चिटों की गड्डी मेरे पास थी; घंटी बजाता और एक-एक करके नंबरवार मुलाक़ाती आते, काम-बेकाम की बातें करते और चले जाते, जैसे सत्यनारायण की पूजा पर पंडित के आह्वान पर एक-एक करके देवता आते और रवाना हो जाते हैं।

एक चिट पर निगाह पड़ी—श्रीराम बाजपेयी, फिर पढ़ा—श्रीराम बाजपेयी। चपरासी को बुलाकर पूछा। "जी हां, बाहर बेंच पर बैठे हैं—सफ़ेद बाल, गोरा रंग, स्काउट की पोशाक।" पच्चीस-छब्बीस बरस पहले की तसवीर आई और झटका-सा देकर चली गई। ऊंचे वृक्ष की डाल फिर झुकी और मैं···मैं··· बौनी कुरसी पर बैठा इठला रहा हूं!···भागा-भागा बाहर गया; बेंच पर अन्य मुलाक़ातियों की भीड़ में संतोष के साथ बैठे इंतज़ार कर रहे थे। पैर छूने को मेरे हाथ बरबस बढ़े। समझ में नहीं आया कैसे माफ़ी मांगूं। लेकिन बाजपेयीजी ने बीच ही में बात काटी और बोले, "जो क़ायदा है, उसको मानना स्काउट का फ़र्ज़ है। मैं कलक्टर साहब से भी मिलने आया हूं, सिर्फ़ जगदीश से ही नहीं।"

सन '२१ और '४७ के दरम्यान पं० श्रीराम बाजपेयी के संपर्क में कई बार आया और सन '४७ के बाद भी, लेकिन किशोरावस्था के बाद सत्रह-अठारह की आयु हो जाने पर बाजपेयीजी का व्यक्तित्व का प्रभाव मुझ पर अनजाने ही कम होता गया। ऐसा मेरा ही नहीं, अनेक युवकों का अनुभव था। उस वृक्ष की तरह, जिसके घोंसलों में पनपकर नन्हे पंछी पर निकलने के बाद दूर की उड़ान भरने लगते हैं। बाजपेयीजी को भी अपने किशोर शिष्यों से बिछोह का गुमान भी न होता था। उनके घोंसले तो भरते और खाली होते ही रहते थे। लेकिन बात केवल इतनी ही न थी। असल में बच्चों और किशोरों का विकास और उनकी अनवरुद्ध अभिव्यक्ति में ही उनकी जीवन-साधना थी।

इस साधना का आमंत्रण सीपों के अंतस् में अचानक गिरनेवाली उस बूंद की तरह था, जो बाद में मोती बन जाती है। श्रीराम बाजपेयी शाहजहांपुर में एक स्कूल में मास्टर थे। पहले विश्वयुद्ध के समय की बात है। साधारण स्कूल में औसत दरजे के मास्टर, निजी तरक्क़ी की ख़ातिर शायद स्कूल में चमकनेवाले

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितारों में नहीं थे; पर निश्चय ही प्रेरणावान, प्राणवान, आदर्शोन्मुखी युवक ! एक दिन परचून की दूकान पर सौदा खरीदने के लिए गये । जिस कागज़ में लपेटकर दूकानदार ने सौदा दिया था, उसे खोलकर देखा। एक पुराना अंग्रेज़ी अखबार था। सचित्र लेख था बेडन पॉवेल के बारे में; कैसे उन्होंने किशोर वयस्कों के लिए आदर्श व्यवहार, मनोरंजन और तत्परता के आधार पर एक नवीन संस्था को जन्म दिया, जिसे 'स्काउटिंग' का नाम दिया गया था। यों स्काउट गुप्तचरों को कहते थे; युद्ध में एक स्थान से दूसरे स्थान पर गुप्त संदेश ले जानेवाला और गुप्त समाचार प्राप्त करनेवाला वाहक। बेडन पॉवेल अंग्रेज़ों और बोअरों में १९०५-६ में जो युद्ध दक्षिणी अफ्रीका में हुआ था, एक फ़ौजी अफ़सर थे। कच्ची उम्र के अनेक सिपाहियों को देखकर उनके मन में किशोरों को तत्परता का पाठ सिखाने और उनमें सच्चाई, आत्मनिर्भरता, परोपकार और हंसमुख रहने की प्रवृत्तियों का समावेश करने की एक नवीन पद्धति का विचार उठा। युद्ध की कीचड़ में मानो एक कमल खिला। सेनानी बेडन पॉवेल ने युद्धक्षेत्र के संहार-रत, कोलाहलपूर्ण और खौलते शोणितमय द्रव्य के ऊपर से मानो मानवेतर गुणों की मलाई-सी उतार ली। १९०७ में उन्होंने बालकों के लिए स्काउटिंग संस्था की स्थापना की। किशोरों की इस संस्था का नारा था 'सदा तत्पर !' इसके सदस्यों के तीन व्रत थे—ईश्वर और देश के प्रति निज कर्तव्य को निबाहना, दूसरों की मदद करना, स्काउट-नियमों का पालन करना। और दस थे इनके नियम—विश्वासपात्र होना, वफ़ादारी करना, सच्चाई, भ्रातृभाव, शिष्टाचार, जीवमात्र के प्रति करुणा और दया का व्यवहार, सदा हंसमुख रहना, मितव्ययिता और आज्ञाकारिता का पालन तथा मन, वचन, कर्म में पवित्रता बरतना। ये नियम किसी दंडविधान की धाराएं नहीं थे। इनके पालन का एकमात्र मानदंड स्काउट की आत्मा ही था।

यद्यपि बेडन पॉवेल ने स्काउटों को दलों (ट्रुप) और टुकड़ियों (पेट्रोल) में इस भांति बांटा था, जैसे फ़ौज बंटी होती है, तथापि यह वर्गीकरण व्यवस्था के सुभीते के लिए किया गया था। बाहरी तौर से फ़ौजी बुनियाद के अन्य लक्षण भी थे, यथा खाकी पोशाक, सही ड्रिल, और ट्रुप अथवा पेट्रोल के नायक का आदेश मानना।

किंतु स्काउटों का कार्यक्रम फ़ौजी कार्यक्रम से नितांत भिन्न होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्काउट कैंप, उनके खेल-कूद, प्रकृति का अवलोकन, हस्तकौशल, गीत एवं अभिनय इत्यादि साधनों से बालकों और किशोरों के चंचल अंग-प्रत्यंग, उनकी उदीयमान भावनाओं, उनके अस्फुट विचारों तथा उनके आवेश और उत्साह के लिए एक रंगशाला प्रस्तुत की जाती है। सबसे मुख्य बात यह है कि पाठ अथवा उपदेशों अथवा आदेशों का आश्रय कम लिया जाता है। सहजीवन, सहक्रीड़ा, सहगवेषणा—ये हैं वे साधन, जिनका स्काउट मास्टर को उपयोग करना है। स्काउट नेता सिखाता नहीं, सीखने का पथ प्रशस्त करता है, जिज्ञासा को जगाता है और दिशा-संकेत करता है; हमजोली बनकर रहता है और फिर भी आदर का पात्र बनता है। स्काउटिंग मिल-जुलकर जीने-जिलाने, हँसने-खेलने और खोजने-पाने की कला है।

परचून की दूकान से खरीदे सौदे को लपेटे, पुराने अख़बारी कागज़ में श्रीराम बाजपेयी ने बेडन पॉवेल के इस असाधारण प्रयोग का वृत्तांत पढ़ा और शायद उन्हें अपने परंपरागत अध्यापन-कार्य में बच्चों और किशोरों के सर्वांगीण व्यक्तित्व की अवहेलना ही जान पड़ी। जो शिक्षा वह देते आए थे, वह स्मरण-शक्ति और पठन-पाठन तक ही सीमित थी। बेडन पॉवेल की संस्था में अध्यापक की आदर्शवादी प्रेरणाओं के लिए आह्वान था और शायद बाजपेयीजी को आभास हुआ कि वह इसी आह्वान की प्रतीक्षा कर रहे थे। भारतवर्ष में पूर्णतः भारतीय स्काउट-आन्दोलन को चलाने का व्रत उन्होंने लिया।

तत्कालीन अंग्रेज़ी सरकार के तत्त्वावधान में यद्यपि कुछ अंग्रेज़ी स्कूलों में बेडन पॉवेल की स्काउटिंग के दल स्थापित किये गए थे, तथापि जिस संस्था का आधार ही प्रेरणा, देशभक्ति और आदर्शों में सन्निहित था, वह भला विदेशी सरकार के आश्रय में पनप सकती थी? भारतवर्ष के उस वातावरण में किसी भी आदर्शवादी आंदोलन के लिए अंग्रेज़ी सरकार के प्रति विमुख हो जाना अनिवार्य-सा हो जाता था। बाजपेयीजी ने महामना मदनमोहन मालवीय का नेतृत्व स्वीकार किया। मालवीयजी ने स्वयंसेवकों की संस्था 'सेवा समिति' का प्रयाग में आयोजन किया हुआ था। सेवा समिति अकसर मेलों, दुर्घटनाओं एवं प्रकृति-प्रकोपों में जन-साधारण की सहायता के लिए स्वयंसेवकों की व्यवस्था करती थी। बंधनों से जकड़े भारतीय समाज में युवकों को इन कामों में ही 'देश-सेवा' का व्यावहारिक अवसर मिलता। बाजपेयीजी को बेडन पॉवेल की स्काउट-संस्था के परोपकार-व्रत में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सेवा-व्रत का साम्य मिला और इस तरह सेवा-समिति के अंतर्गत सेवा-समिति बॉय-स्काउट एसोसिएशन की स्थापना हुई। बाद में बाजपेयीजी एक दूसरी सेवा-संस्था, गोखले द्वारा स्थापित पूना की सर्वेंट्स ऑफ़ इंडिया सोसाइटी के सदस्य बन गए और सेवा-समिति बॉय-स्काउट एसोसिएशन उससे जुड़ गया।

स्काउट का यह व्रत कि प्रति दिन वह एक काम दूसरे की भलाई में करे (वन गुड टर्न ए डे), दिखावे की बात भी हो सकती है। किंतु किशोरों की मनोवृत्ति का अध्ययन बताता है कि वे पालतू जीवों की देखभाल करने, उनकी सहायता करने में अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति पाते हैं। बाजपेयीजी ने न सिर्फ़ इस नैसर्गिक परोपकार-वृत्ति को उत्तेजित किया, बल्कि सेवा-कार्य में व्यवस्था, योजना और सूझ-बूझ के प्रयोग में भी किशोरों को ट्रेनिंग दी। यह व्यावहारिक ज्ञान उपयोगी तो था ही, किशोरों को इसके फलस्वरूप समाज में अपनी महत्ता का अनुभव भी होता था। अपने को समाज के लिए उपयोगी पाना, आत्मविश्वास की पहली सीढ़ी है—विशेषत: नववयस्कों में।

प्रयाग में कुंभ मेला हो अथवा किसी छोटे नगर में रामलीला, बाजपेयीजी के स्काउट तत्पर रहते। उस ज़माने में अंग्रेज़ी सरकार की तरफ़ से सहायता की व्यवस्था कम ही हुआ करती थी। इसलिए गैर-सरकारी प्रबंध करने में संतोष भी मिलता और विदेशी सरकार की कमियों को प्रकट करने का अवसर भी। किंतु बाजपेयीजी ने इस 'राजनीतिक' पहलू पर कभी ज़ोर नहीं डाला। पर-सेवा में लगन और कर्मठता की उन्हें इसी भांति आवश्यकता थी, जैसे किसी खिलाड़ी को अपने अंग-प्रत्यंग के संचालन की। जिसको बोलचाल में कहते हैं 'हुड़क'—यानी ऐसी तीव्र इच्छा, जिसका कोई कारण न हो और न उपचार—यही 'हुड़क' उन्हें होती और वह जुट जाते। उनका नेतृत्व बालकों और किशोरों को उत्साह देता—उत्साह, संघर्ष के लिए नहीं, तोड़-फोड़ के लिए नहीं, तुमुल ध्वनि से आकाश-पाताल एक करने के लिए नहीं, बल्कि सैकड़ों स्त्रियों, बच्चों को रास्ता दिखाने के लिए, खोए बच्चों और बूढ़ों को अपने अभिभावकों से मिलाने के लिए, आहत व्यक्तियों की शुश्रूषा करने के लिए। पता नहीं चलता कि कब बाजपेयीजी आराम करते हैं, कब मुंह में कौर डालते हैं ! यह तो जान ही नहीं पड़ता कि उन्हें कभी थकान भी होती है !

सबसे बड़ी बात यह कि वह अफ़सरों की तरह मेले के हेडक्वार्टर्स पर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठे हुकुम नहीं देते थे। वह 'अफ़सर' भी थे और 'सिपाही' भी। कोई 'मोर्चा' ऐसा नहीं, जहां वह चक्कर न लगाते हों; कोई प्रयास ऐसा नहीं, जिसमें वह हाथ न लगाते हों। उनकी मुस्तैदी स्काउटों के मुरझाए चेहरों में चमक पैदा करती, उनके शीतल शब्द मरहम का काम करते थे, उनकी चिर-सजग मुस्कराहट और उनके चुटकुले मन और वाणी में स्फूर्ति पैदा कर देते थे। बालकों और किशोरों पर यह जादू ऐसा चढ़ता कि वे कुछ समय बाद आप-ही-आप आयु की सीढ़ियों को लांघकर ज़िम्मेदारी और बड़प्पन के एकाकी शिखर पर अविचलित खड़े हो जाते। हमारे नगर में रामलीला थी। दशहरे का आखिरी दिन। जनता बाड़े के चारों ओर राम-रावण-युद्ध और रावण-वध की लीला देखने को उमड़ रही थी। स्काउटों की अलग-अलग स्थान पर ड्यूटी थी, और मुझ पर बाहर दरवाज़े पर ट्रैफ़िक के प्रबंध का भार था। मेरा प्रबंध कहां तक सफल रहा, यह मुझे याद नहीं। एक बालक-कांस्टेबल की आज्ञा सबने मानी हो—यह तो शायद असंभव था। लेकिन इतना याद है कि कई बार इच्छा हुई बाड़े के पास जाकर लीला देखने की। स्वाभाविक इच्छा थी। लेकिन यह इच्छा दबाने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि मैंने सोचा, 'मैं सेवा-समिति का बॉय-स्काउट, बाजपेयीजी का स्काउट हूं। क्या मैं अपनी ड्यूटी से हट जाऊं?'

सैकड़ों किशोरों को इस आती-जाती बड़प्पन की भावना ने ओत-प्रोत किया होगा। बालकों और किशोरों को वास्तविक जीवन में कुछ कर सकने का अवसर देकर बाजपेयीजी ने स्काउटिंग को क्रीड़ा-शिक्षा के दायरे से बढ़ाकर जीवन-अनुभव की आधार-शिला पर ला बिठाया। किशोरों को प्रौढ़ों की-सी ज़िम्मेदारी और महत्ता का आभास कराना बाजपेयीजी का विशेष 'टेकनीक' था। इस सिद्धांत का किसी प्रकार के लेख अथवा भाषण इत्यादि में प्रतिपादन उन्होंने किया हो, यह तो याद नहीं पड़ता, किंतु बारह-तेरह बरस से ऊपर के किशोरों के साथ बातचीत करते तो ऐसे ही, जैसे किसी हमउम्र के साथ। 'आप' से संबोधन करते, गंभीर मुद्रा में उनकी बात सुनते, उनसे सलाह लेते, उन्हें काम-काज सौंपते। कभी ऐसा नहीं लगा कि बच्चा समझकर टालने या ऊपरी मन-बहलाव की बात करते हों। विकसते व्यक्तित्व को इस तरह आत्मविश्वास का पुट मिलता। शायद उद्यमी लड़कों को सही रास्ते पर लाने का यह अमोघ मंत्र था।

सेवा की लगन और उत्तरदायित्व की प्रेरणा—ये दोनों ही आंतरिक विकास

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ख़ूराक थे । किंतु तरुण जीवन खेल-कूद, हँसी-मज़ाक और उछल-कूद चाहता है, और बाजपेयीजी ने इन सभी उपकरणों का पूरा-पूरा इस्तेमाल किया । प्रयाग में बैंक रोड पर पहले सेवा-समिति बॉय-स्काउटों और शेर बच्चों (कब्स) के लिए एक क्रीड़ा-स्थल था । बीच में एक खंभा था, जिसकी चिकनी सतह पर चढ़ने की एकाध बार मैंने भी कोशिश की । आजकल की तरह म्युनिसिपेलिटी की तरफ़ से स्लाइड वग़ैरह उन दिनों बहुत कम लगाए जाते थे । इसलिए बाजपेयीजी की क्रीड़ा-स्थली में अधिकतर खेल अपने हाथ-पैर, लाठी, रस्सी और अक्ल के बल पर ही होते थे। पुराने हिंदुस्तानी खेल, जैसे कबड्डी इत्यादि तो थे ही, बाजपेयीजी नए खेल ईजाद करने और पाश्चात्य खेलों को भारतीय रूप देने में विशेष दक्ष थे। इन खेलों के लिए अकसर मज़ेदार हिंदुस्तानी नाम भी बाजपेयीजी खोज निकालते। एक बात विचारणीय है। खेल-कूद की प्रतियोगिताएं तो शिक्षा-संस्थाओं और क्लबों इत्यादि में तब भी होती थीं और अब भी । तब फिर स्काउटिंग के खेल-कूद की विशेषता क्या थी ? प्रतियोगिताओं वाले खेल-कूद में प्रदर्शन का महत्व है, इने-गिने खिलाड़ियों की इज्ज़त और शोहरत की बात है। प्रतियोगिताओं के खेल-कूद शिक्षा और जीवन-विकास के साधन नहीं हो सकते । यदि ध्यान प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ होने की ओर लग गया, तो व्यक्ति ही की पूछ होगी; दल तो बिखर जाएगा । स्काउटिंग दल की एकता पर ज़ोर देती है । खेल सारे दल की ख़ुशी के लिए खेले जाते हैं, न कि एक अच्छे खिलाड़ी को शाबाशी दिलाने के लिए । इसीलिए बाजपेयीजी के खेलों में प्रतियोगिता की मात्रा कम और मेल-जोल और हँसी-ख़ुशी की अधिक हुआ करती थी। शायद इसीलिए सेवा-समिति के बॉय-स्काउट प्रदर्शन में उतने प्रभावशाली नहीं हो पाते थे, जितने ड्रिल और बारंबार अभ्यास करनेवाले अंग्रेज़ी स्कूलों के लड़के । एक खेल था—'पिरैमिड' बनाना, यानी सरकस के नटों की तरह एक-दूसरे के ऊपर चढ़कर पन्द्रह-बीस लड़के एक ऊँचा भवन या मीनार-सी खड़ी कर लेते । मिल-जुलकर मनोरंजन और कसरत का सजीव नमूना था पिरैमिड । लेकिन जहां प्रतियोगिता और प्रदर्शन प्रधान हुए, वहां पिरैमिड का मज़ा ही किरकिरा हो जाता । हमारे ज़िले की सरकारी प्रतियोगिताओं में इसीलिए हम लोग शायद ही कभी वाहवाही पाते ।

बात यह है कि स्काउटिंग रंगमंच की कला नहीं है, जो दर्शक समाज की करतल-ध्वनि के आसरे पनपती हो । वह तो तरुणों के सामुदायिक जीवन और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वस्थ आमोद-प्रमोद की कला है, जहां दर्शकों और प्रदर्शकों में कोई अंतर नहीं। सब घुल-मिल जाते हैं, सब उल्लास की लहरी में बह जाते हैं, फिर भी ऐसे अनुशासन से पाबंद रहते हैं, जो मन के व्रत और विश्वास से उत्पन्न होता है, दंड के भय के कारण नहीं। (स्काउटिंग में फ़ौजी ढंग की 'फटीग ड्यूटी' का विधान नहीं है।) बाजपेयीजी के नेतृत्व में स्काउटिंग के सर्वांगीण प्रभाव का अनुभव मुझे हुआ १६३१ में, जब उन्होंने ऋषिकेश के निकट जंगल में 'निर्मल वन कैंप' का आयोजन किया। उस कैंप के वातावरण का मेरे किशोर व्यक्तित्व पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि बाद के जीवन के अंधड़-तूफ़ान भी उन रेखाओं को मिटा न सके।

तराई का वह जंगल बाजपेयीजी ने काली कमलीवाले बाबाजी की कृपा से दो महीने के लिए प्राप्त किया। गंगा-तट से थोड़ा हटकर पहाड़ी की तलहटी में साल, बांस एवं घने लता-गुल्मों को आड़े-तिरछे काटते हुए छोटे नदी-नालों के बीच सघन और विशालकायी हरीतिमा से घिरे एक खुले स्थान में टीन के झोंपड़े बने और तंबू ताने गए। लगभग २०० स्काउट और स्काउट मास्टरों के उस आश्रम के कुलपति के रूप में बाजपेयीजी को अत्यंत निकट से देखने का सौभाग्य मिला। नाना रुचि और प्रवृत्ति के लोगों को एक वातावरण में दिन-प्रतिदिन की असुविधाओं, मतभेदों और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के बावजूद एक सूत्र में बांधे रखना हँसी-खेल न था। फिर भी बाजपेयीजी हँसी और मुस्कान, सहिष्णुता और सहानुभूति तथा तत्परता और तरलता का जो ताना-बाना बुनते, वही एक चलनी-सी बन जाता, जिसमें छन जाती हम लोगों की अपनी-अपनी झुंझलाहट, कुंठाएं, और दुराग्रह, और रोज़ सबेरे निर्मल वन कैंप का वातावरण सत्य ही निर्मल और धवल जान पड़ता।

यह बात नहीं कि बाजपेयीजी नरम ही रहना जानते थे, गरम होना नहीं। एक दिन रोज़ की तरह प्रार्थना-स्थल पर सारा कैंप एकत्र था। प्रातःकाल की वह प्रार्थना प्रकृति और परमात्मा का आभास नन्हे-सें-नन्हे हृदय को भी देती थी। यों हम लोग अपनी-अपनी वरदी में लैस होकर जाते, अर्धवृत्ताकार पंक्तियों में करीने से खड़े होते, बीच में कैंप का ध्वज, जिसके पास बाजपेयीजी—नायक भी, पुरोहित भी, कुलपति भी, उपासक भी। अनेक धर्मों की प्रार्थनाओं का पाठ होता—हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, इत्यादि और बाद में स्काउटिंग के ही कुछ उत्साह-वर्धक गीत गाए जाते तथा बाजपेयीजी दिन के प्रोग्राम तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर कुछ घोषणाएं करते। प्रार्थना में कुरान की आयतें जो सज्जन सुनाते, वह अपने ऊर्ध्व स्वर में संतुलन नहीं रख पाते। शायद इस कारण और शायद आयतों के अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ बालक आयतों के पाठ के समय एकाग्र-चित्त नहीं हो पाते थे। कुछ दिन पहले से बाजपेयीजी का ध्यान भी इस ओर गया। उस दिन उनके कानों में हँसी सुनाई पड़ी, कुछ दबी-सी किशोर खिलखिलाहट। प्रार्थना-स्थल का गंभीर वातावरण दो टूक होता जान पड़ा; कनखियों से बाजपेयीजी ने देखा कि किस लड़के ने प्रार्थना-स्थल के अनुशासन को तोड़ा था। प्रार्थना समाप्त होते ही उन्होंने घोषणा की—स्काउट दीप मेहरोत्रा तीन दिन के लिए प्रार्थना-समाज से बहिष्कृत रहेगा।

सब लोग स्तंभित रह गए। दीप मेहरोत्रा बाजपेयीजी का प्रिय पात्र था। हमेशा उनके साथ रहता, बल्कि कैंप के कई लोग तो बाजपेयीजी की इस बात पर आलोचना करने से भी न चूकते कि दीप तथा एक-दो अन्य लड़कों के प्रति उनका विशेष मोह था। उसी दीप को भरी सभा में प्रताड़ना देने का निश्चय बाजपेयीजी ने किया—यह बात शब्दवेधी बाण की तरह उपस्थित समाज में से लगभग प्रत्येक के दिल में जा लगी। दीप रो पड़ा, लेकिन बाजपेयीजी अविचलित रहे। दूसरे धर्म की इज़्ज़त करना स्काउट का कर्तव्य है और साधना भी। ईश्वर की आराधना खिलवाड़ नहीं। जो थोड़े समय के लिए भी अपने ऊपर अपनी ही इच्छा-शक्ति से अनुशासन न कर सके, वह यदि ड्रिल, मार्चिंग और कैंप के नियमादि-जैसे बाहरी उपकरणों से अपने को नियंत्रित करे भी, तो वैसा नियंत्रण बेकार है। असली अनुशासन आत्म-संयम है, और दीप को वही संयम सीखना है।

कई दिन तक निर्मल़ वन कैंप में इसकी चर्चा चलती रही, छिपे-छिपे नहीं, दबी ज़बान में नहीं, बल्कि एक समस्या के समाधान के तौर पर। शायद यही बाजपेयीजी चाहते थे, ताकि विवेचन और विचार के बाद प्रार्थना की पावनता के प्रति विश्वास की जड़ें आप-ही-आप स्काउटों के मन में जम जाएं। बाजपेयीजी दार्शनिक न थे और न उपदेशक, जो ओजस्वी शब्दों तथा दृष्टान्तों एवं अलंकार के प्रभाव से आदर्शों का संदेश हृदयंगम करा सकते। भाषण और वक्तृत्व अकसर देते, बोलते समय कभी-कभी थोड़ा हकलाते भी। लेकिन प्रवचन उनके प्रायः छोटे ही होते। प्रभाव पड़ता उनकी सादगी का, 'सचौटी' का, जिसे अंग्रेज़ी में 'सिंसेरिटी' कहते हैं। फिर भी भाषण पर उनकी आस्था इसलिए कम थी कि भरी सभा में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिये गए भाषण बोलनेवाले का संबंध सारे समूह से तो स्थापित करते हैं, लेकिन व्यक्ति से उसे दूर कर देते हैं। व्यक्ति से दूरी बाजपेयीजी के बुनियादी सिद्धांत के विपरीत थी।

और शायद इसीलिए वह व्यक्ति की छोटी-छोटी कमज़ोरियों के प्रति सहिष्णु थे, सहानुभूति और स्नेह से काम लेते। निर्मल वन कैंप में उनके सहकर्मियों में विभिन्न रुचि के लोग थे। पं० रामनारायण मिश्र, वाराणसी के हिंदू हाईस्कूल के ख्यातिनामा प्रधानाध्यापक, हम लोगों को शिष्टाचार सिखाते। बड़े निष्ठा-वान और धार्मिक प्रवृत्ति के अध्यापक थे, किंतु आर्यसमाज के आदर्शों ने उन्हें कुछ कट्टर भी बना दिया था। श्री जानकीशरण वर्मा हमें कहानियां सुनाते, गीत सिखाते, हँसाते और दुलराते। उन दिनों वह भोजन के शौक़ीन थे, मोटा शरीर था (बाद में प्राकृतिक चिकित्सा के विशेषज्ञ हो गए)। श्री बालेश्वरप्रसाद अपनी योग-क्रियाओं के प्रदर्शन से हमें चकित भी करते और हमारा स्वास्थ्य-निर्देशन भी। श्री देवलालकर व्यायाम-शिक्षक थे, जिनके शुष्क बाह्य के नीचे भावुकता लहराती थी। श्री अख्तरहुसैन राधेश्याम और आगा हश्र के नाटकों में जिस ख़ूबी से 'विलेन' का पार्ट अदा करते, उसकी झलक छोटी-मोटी बातों में दैनिक व्यव-हार में भी दे देते थे। वकील श्री अहमद अब्बासी, जिन्हें कैंप का राज-विदूषक माना जाता था, क्या सिखाते थे, यह याद नहीं, लेकिन स्काउटों की जो टुकड़ी उनके साथ बाहर जाती, उसकी मौज होती। श्री डी० एल० आनंदराव—मिष्ट-भाषी, सफल संयोजक—हमें स्काउट-नियम, फ़र्स्ट एड, गाँठें बांधना, पेड़ पर चढ़ना, पुल बनाना, इत्यादि बातें सिखाते। किशोरों की मनोवृत्ति का मर्म वह सहज ही समझ लेते।

ऐसी टीम थी बाजपेयीजी की निर्मल वन कैंप में। उनमें से किसी को असा-धारण योग्यता का व्यक्ति नहीं कहा जा सकता और न उनमें से किसी के सद्गुणों की विभा इतनी चमत्कारिणी थी कि दोषों की कालिमा बिलकुल अदृश्य हो जाती। असल में किसी भी कार्यक्षेत्र में बाजपेयीजी ने अपने सहकर्मियों को चुनने में मीन-मेख नहीं निकाली। आदर्शों से प्रेरित होकर जो भी सेवाभाव से उनके पास आया, वही उनकी पंगत में शामिल हो गया। ये लोग आकाश के देदीप्यमान सितारे न थे, धरती के फूल थे, दैनिक जीवन की जड़ता को फोड़कर जिनके सत-रंगी आदर्श विकसे, अकसर क्षणभंगुर, वैषम्य के झकझोरों से पतित हो जानेवाले,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन प्रायः उस दृढ़ता से भरपूर, जिसमें आनेवाले कल का आह्वान होता है। बाजपेयीजी की खूबी इसी में थी कि साधारण-से-साधारण श्रुतिपुटों में उस आनेवाले प्रभात की आहट पहुंचा देते। जीनियसों को सहारा देकर समाज को अनेक गुरुओं और नेताओं ने चकाचौंध किया है। किंतु बाजपेयीजी का निर्मल वन कैंप तथा सेवा समिति बॉय-स्काउटिंग के अन्य केंद्र जीनियसों की नर्सरी—यानी असाधारण प्रतिभासंपन्न पुरुषरत्नों की विकासस्थली नहीं थे। उनके बॉय-स्काउट तथा उनके साथी स्काउट मास्टर अथवा नायक—यहां तक कि वह स्वयं—साधारण मानव के प्रतीक थे। पता नहीं, उनके कितने स्काउटों ने नाम कमाया; कुछ को यश मिला होगा, अनेक को नहीं। लेकिन शायद उनमें से प्रत्येक ने अपने दैनिक जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों में बाजपेयीजी की सोदाहरण सीख की उपयोगिता पाई होगी। क्लर्क हो या अफ़सर, नेता हो या अनुयायी, दूकानदार हो या करोड़पति—सबने अपने-अपने अभाव-संपदा और मानापमान के आवरण के नीचे मूल मानव के रोज़ाना के सफ़र में संबलस्वरूप पाया होगा बाजपेयीजी द्वारा पढ़ाये गए तत्परता, परोपकार, सच्चाई और विश्वस्तता के अविस्मरणीय पाठों को !

काश कि किशोरों के मन को मुट्ठी में रख लेनेवाले बाजपेयीजी की वह स्नेह-सीख हमें अपने बाद के जीवन में भी मिल सकती ! इसका क्षणिक सुवर्ण-संयोग मुझे मिला सन '५० में, जब मैं बिहार के शिक्षा-विभाग का सेक्रेटरी था। रांची में उन दिनों हर वर्ष बिहार सरकार के सेक्रेटेरियट का दफ़्तर तीन-चार महीनों के लिए जाया करता था और हम लोग चलताऊ कमरों में अपने-अपने दफ़्तर किया करते थे। किसी कार्यवश बाजपेयीजी मुझसे मिलने आए। बैठते ही उनकी निगाह मेरी मेज़ पर गई, जगह-जगह धूल जमी थी। रूमाल निकालकर तुरंत साफ़ करने लगे और सस्मित बोले, "आप लोगों को तो इससे बेहतर मेज़ें मिलनी चाहिएं !" कथन में व्यंग्य था, किंतु जिस मुस्तैदी से उन्होंने मेज़ को साफ़ करना शुरू किया, उससे मेरी लापरवाही तो ज़ाहिर हुई ही, मुझे उसी स्नेह-सीख का मधुर संस्पर्श मिला, जिसकी बीस वर्ष पहले की याद-भर रह गई थी।

यादगारों की बस्ती बड़प्पन की वह ओट है, जिसके पीछे शिथिल होती हुई इच्छा-शक्ति और कर्मठता कोरी बातों का सहारा खोजती हैं। बाजपेयीजी कभी यादगारों की बस्ती में नहीं रहे। कथनी कम, करनी अधिक, इस सिद्धांत के पालन में ही उनकी शक्ति थी और इसी में उनकी कमज़ोरी। शक्ति इसलिए कि जो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है, केवल बताता नहीं, उसी की इंद्रियां और उसी का व्यक्तित्व चिर-नवीन रहते हैं, हमेशा कर्मोद्यत, हमेशा तत्पर। नौजवानी में ही सारे बाल सफ़ेद हो गए थे बाजपेयीजी के, किंतु वह सफ़ेदी हिमालय के मस्तक पर चिरंतन कौमार्य की धवलश्री के समान थी। आँखों में तेज, शरीर में ऋजुता, चाल में क्षिप्रता—ये सब लक्षण बाजपेयीजी के अक्षय स्वास्थ्य के थे, परंतु इनका मूल स्रोत थे उनके सतत सन्नद्ध, संलग्न और सक्रिय हाथ और पैर तथा वह चेतना, जो सामने आए काम पर जुट जाती है, क्षण की चुनौती को स्वीकार करती है।

और एक मानी में इसी में उनकी असफलता भी थी। सत्तर से ऊपर की आयु प्राप्त कर लेने पर भी, अनेक युवकों, किशोरों और बालकों के अभिभावक और पथ-निर्देशक बन जाने पर भी, बाजपेयीजी मूलतः वालंटियर ही रहे। जिस संस्था को उन्होंने पाला-पोसा और इतनी खूबी से संचालित किया, उसे वस्तुतः अखिल भारतीय रूप नहीं दे सके और न स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अपनी और अपनी संस्था की ठोस उपलब्धियों और सेवाओं के आधार पर नए भारतवर्ष में स्काउटिंग का नेतृत्व अपने हाथ में ले सके। सन '४७ से सन '५० तक के तीन वर्ष हमारे देश में युवकों और बालकों के आंदोलन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे। गांधीजी के बलिदान के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-जैसी सांप्रदायिक संस्थाओं का प्रभाव एक साथ घट गया। वही समय था जब स्काउटिंग, जिस पर किसी तरह का सांप्रदायिक अथवा राजनीतिक दुराग्रह कभी आरूढ़ नहीं रहा, आसानी के साथ नई पीढ़ी का नेतृत्व सारे भारतवर्ष में अपने हाथ में ले सकती थी। ऐसा नहीं हो सका। किसकी चूक थी, यह तो इतिहास ही बताएगा। किंतु स्काउटों की जिन संस्थाओं के आपसी मतभेद और मनमुटाव के कारण यह मलाल रह गया, उनमें बाजपेयीजी की सेवा-समिति स्काउट-संस्था (जिसका नाम हिंदुस्तान स्काउट एसोसिएशन था) ही का इतिहास आदर्शों से ओत-प्रोत था। स्वाधीनता-आंदोलन के दिनों में विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उसी ने बालकों में उल्लास और प्रगति का संदेश फूंका, सेवाभाव से उनके तन-मन को अनुप्राणित किया, ग़ुलाम समाज के किशोरों को उज्ज्वल भविष्य के सपनों का आह्वान दिया। क्या ही अच्छा होता यदि नए भारत स्काउट को इसी परंपरा की विरासत मिलती! बाजपेयीजी को भारत स्काउट एसोसिएशन में समादर मिला और महत्त्वपूर्ण स्थान भी, किंतु नए भारत में स्काउटिंग का ढांचा करने का नेतृत्व उनके हाथ में न रहा। सो क्यों?

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात यह थी कि बाजपेयीजी खुली और ताज़ी हवा में किशोरों और बालकों की नवोदित उत्कंठा, अकलुष ज्ञान-पिपासा और उन्मुक्त हँसी-खेल के विधाता थे। दफ़्तर की घिरी हुई कोठरी में मेज़ पर कागज़ी मसविदे और दूर की कौड़ी लाकर योजनाएं तैयार करने में माहिर नहीं थे। वह सूझ-बूझ, जो संस्थाओं में प्राण-संचार से पहले ही उनकी बाहरी इमारत का हर अंग तैयार कर देती है; वह तदबीर, जो बरसों बाद संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के बीच अधिकार-वितरण का प्रबंध कर लेती है; वह व्यवसाय-बुद्धि, जो खर्च से पहले भविष्य की आमदनी की रक़म जमा कर लेती है—बाजपेयीजी के अनुभव और प्रवृत्ति के परे थीं। बाजपेयीजी चाहे इस बात को न कहते हों, लेकिन उनकी दृष्टि में संस्था की पृथक् हस्ती न थी—संस्था किशोरों और बालकों का समूह थी और उन्हीं के लिए थी। नियम, अधिनियम, पद-वितरण, अधिकार-प्रकरण—ये सब तो प्रयोजन मात्र थे। जब उन्होंने सर्वप्रथम सेवा-समिति बॉय-स्काउटों के दल तैयार किए, तो संविधान का परिधान प्रस्तुत करने में उन्होंने माथापच्ची नहीं की, वरन बालकों की उमंगों और तत्परता से अनुप्राणित वह शरीर-तत्त्व निर्मित किया, जिसके लिए परिधान बाद में मिल सकता था। काग़ज़ी योजनाओं और संवैधानिक ठाठ-बाट के युग में बाजपेयीजी-जैसे मानव-केंद्रित और प्रकृति-प्रेरित व्यक्ति के उत्साह और उल्लास को सिर-आँखों पर कौन उठाता? वह तो जंगल की अंधियारी के बीच ताप और ज्योति के पुज 'कैंप फ़ायर' के चारों ओर बैठे तरुणों को प्रकृति की चुनौतीपूर्ण तान सुनाकर उन्हें मुग्ध और भयमुक्त कर सकते थे, खुले आसमान में जगमगाते सितारों के नाम और गति-विधि बताकर चिरतरुण विश्व की धड़कन से परिचित करा सकते थे, खज़ानों की खोज के खेल-ही-खेल में पहाड़ों और नदी के नक़शे बनाना सिखाकर धरती माता की सच्ची रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते थे। रस्सियों, गांठों और लाठियों के करतब से वृक्षों पर चढ़ना, पुल बनाना, तंबू तैयार करना एवं अन्य शिल्पों के शिक्षण द्वारा प्रकृति के क्रोड़ में खेलनेवाले प्राणियों से हमारा नाता जोड़ सकते थे।

कहां निर्मल वन कैंप में जगमगाता बाजपेयीजी का वह उत्फुल्ल व्यक्तित्व, और कहां दिल्ली के दफ़्तरों में स्काउटिंग-संविधान के शब्दों और पदाधिकार के बारे में रस्साकशी! वह खिलाड़ी, जिसे हर खेल में रस मिला, इस बेढब रस्साकशी में दिलचस्पी न ले सका।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन एक शंका उठती है। यदि बाजपेयीजी कुछ वर्ष और जीवित रहते और यदि उन्हें अपने ढंग की स्काउटिंग को नई पीढ़ी के किशोर और तरुणों के बीच निर्विघ्न चलाने का अवसर मिलता, तो क्या नई पीढ़ी उन्हें उसी तरह सिर-आंखों पर उठा लेती, जैसे इससे पूर्व की पीढ़ी ने लिया था ? यह शंका युग-परिवर्तन की प्रतिध्वनि है। बड़ी तुमुलध्वनि है यह और इस नक्कारखाने में बाजपेयीजी की स्काउटिंग की तूती सुनाई पड़ती या नहीं—इसमें संदेह है। नई पीढ़ी के किशोर और तरुण तत्पर होंगे और अनुशासित भी, लेकिन इसके लिए फ़ौजी ठाट-बाट—वरदी और सलामी—का आकर्षण चाहिए। यह उन्हें दिया जा रहा है भरपूर, एन० सी० सी० के परेड ग्राउंडों और कैंपों में, जिसके आगे स्काउटिंग की क़तारें, वरदी और कैंप रेशमी कपड़े में टाट के पैबंद सरीखे जान पड़ते हैं। नई पीढ़ी का तरुण मनोरंजन भी चाहता है, लेकिन क्या स्काउटिंग के जोशीले वृंद-गीत और सिंहनाद, कैंप-फ़ायर के चारों ओर होनेवाले सीधे-सादे, पर चुटीले अभिनय उसका मन मोह सकते हैं ? उसे मनोरंजन मिल रहा है उन ग़ज़लों और प्रणय-गीतों में, जिन्हें हर फ़िल्म-प्रेमी गुनगुनाता है और उन अमरीकी और अफरीकी धुनों में, जिनकी चंचल ताल पर अंग-प्रत्यंग नाचते हैं। इन दो धुरियों के बीच आधुनिक तरुण के उत्साह और नवोदित शक्तियों का चक्र घूम रहा है। शायद बाजपेयीजी की स्काउटिंग इन दोनों ही क्षेत्रों में कुछ समझौता कर लेती। हो सकता है कि सरकार से कुछ अधिक अनुदान मिलने पर उनके स्काउटों की वरदियों में चमक-दमक आ जाती, उनकी ड्रिल में फ़ौजी नुकीलापन भी दीख पड़ता। नए फ़ैशन की धुनों पर उनके गीत और नारे भी संवर जाते। लेकिन बाजपेयीजी उसका क्या करते, जिस पर उनके आदर्शों की दुनिया ही टिकी थी—निःस्वार्थ सेवाभाव ? नए समाज और नई पीढ़ी के लिए सेवा-व्रत की भला क्या मर्यादा ? आज़ादी का पहला शिकार हुआ वालंटियर। वालंटियर अब भी होते हैं—बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंसों में, और जलसों में, किंतु उनके मन की आँखों के आगे तो मनसूबों का मोर नाचता है, हाथ भले ही सेवा करते हों। सौदों के इस युग में उस पागलपन को कौन पूछता है, जो किसी तरह के निजी स्वार्थ के बिना ही सेवा-कार्य में जुट जाता है, न कोई मेहनताना, न तरक्क़ी के वायदे—शुद्ध सेवाभाव, जो साँसों की तरह निरायास आता-जाता और आदर्शों की धड़कन को अनुप्राणित करता रहता है !

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौदों का ही युग नहीं, विशृंखल मनोवृत्तियों का युग; वह जो हर आदर्श पर हँसता है, हर मर्यादा का वैरी है, हर मंदिर का विध्वंसक है। आस्बर्न के 'एंगरी यंग मैन' का भारतीय संस्करण अपनी आंखें तरेर रहा है; उसने राष्ट्रीय चेतना का वह विहान देखा ही नहीं, जिसके क्षितिज पर आदर्शों की लालिमा उतनी ही वास्तविक थी, जितनी तरुणों के गालों की लाली। त्याग, सेवा, संयम की जो चर्चा उस विहान में गगनचारी विहगों के नए गान-सी मधुर जान पड़ती थी, आज की पीढ़ी को वैसी ही झुंझलाहट पैदा करनेवाली जल्पना और रटन जान पड़ती है, जैसे ग्रामोफ़ोन की सूई अटक जाने पर किसी विकृत रेकर्ड से निकलनेवाली धुन !

बाजपेयीजी ने इस युग से करवट ले ली। अच्छा ही हुआ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक जन्मजात चक्रवर्ती

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
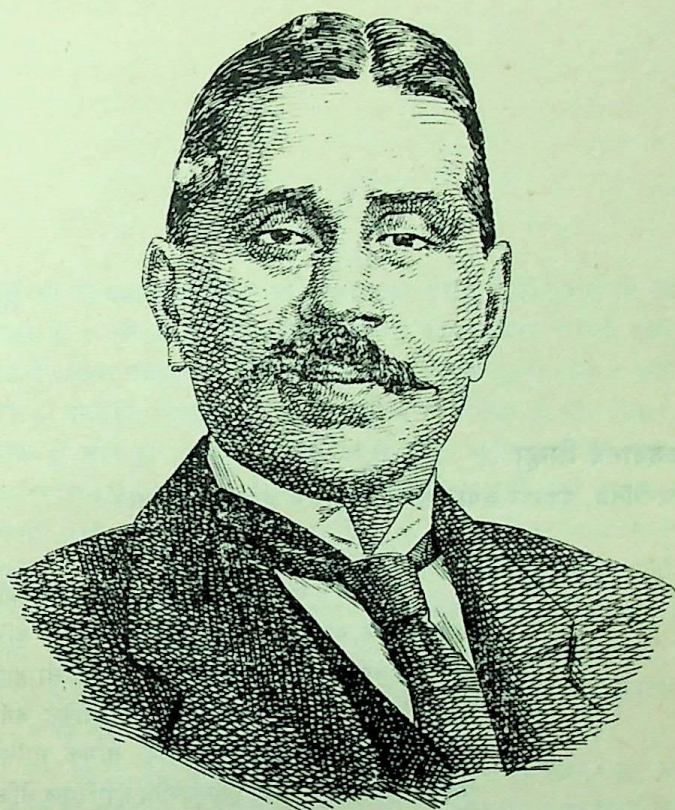
सच्चिदानंद सिन्हा

(राजनीतिज्ञ, पत्रकार तथा वर्तमान बिहार के अग्रगण्य निर्माता)

जन्म : १० नवंबर, १८७१। शिक्षा पटना और सिटी कॉलेज, कलकत्ता। १८९३ में इंगलैंड में बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। लौटने पर कलकत्ता हाईकोर्ट और बाद में पटना हाईकोर्ट के एडवोकेट बने। १८९९ में पटना से 'हिंदुस्तान रिव्यू' नामक मासिक पत्र निकालना शुरू किया। तत्कालीन इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के तीन बार सदस्य बनाये गए। १९२० में बिहार-उड़ीसा लेजिस्लेटिव एसेंबली के सदस्य चुने गए, और कुछ वर्षों के लिए एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिलर भी रहे। लगभग नौ वर्ष तक पटना यूनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर रहे। अनेक सामाजिक और शिक्षा-संस्थाओं से संबद्ध रहे। जीवन के अंतिम दिनों में कॉन्स्टिटुएंट एसेंबली के वरिष्ठ सदस्य बने। रचनाएं—'इक़बाल', 'दि पोएट एंड हिज़ मेसेज', 'सम प्रॉब्लम्स ऑफ़ बिहार ऐबोरिजिनल्स'।

मृत्यु : सन १९५० ई०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िंदगी की सवारी कोई बोरे की तरह लदकर करता है, कोई जान पर खेलकर सरकस के नट की तरह, और कोई-कोई गंगा की मौजों पर लरजते बजरे पर शान से तकिया लगाकर बैठे उस रईस की तरह, जिसके मुंह में चांदी के कलापूर्ण हुक्के की नली हो, तटवर्ती दृश्यों पर जो निगाह भी डालता हो और रिमार्क भी कसता हो, और जो एक चक्रवर्ती महाराज की भांति भ्रू निक्षेप सहित अभयदान तथा आदेश प्रदान करता हो। डॉ० सच्चिदानंद सिन्हा इसी श्रेणी के जन्मजात चक्रवर्ती सर्वेक्षक थे। अनुभव की महफ़िल उनके मन के आंगन में जमती ही रहती, कभी उखड़ी नहीं। ज़माने गुज़र गए। लगभग अस्सी ऋतु-परिवर्तनों की अठखेलियां देखीं, लेकिन कोई ऊब नहीं, कोई मलाल नहीं। बीती बात उन्हें उलझा नहीं पाती और आगे आनेवाला कल उन पर हावी नहीं हो पाता। क्षण की तह में जो चिरनवीन रस है, उसी का आस्वादन करते, क्षण की मर्यादा को ही डंके की चोट पर घोषित करते।

सन १९३५ में प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर होस्टल में पधारे। डॉ० अमरनाथ झा को अपना अनुज मानते। म्योर होस्टल में झासाहब के स्नेहपात्र शिष्यों ने सिन्हासाहब को एक छोटी-सी गोष्ठी में आमंत्रित किया। साहित्य और संस्कृति पर काफ़ी देर तक चर्चा चली। दूसरे दिन मैंने झासाहब से कहा कि एक सवाल मैं सिन्हासाहब से नहीं पूछ पाया। "क्या?" "यही कि उम्र का धावा उन पर अभी तक क्यों नहीं हुआ? देखिए न, एक भी सफ़ेद बाल नहीं दीखता।"

झासाहब कुछ ठहरकर बोले, "अच्छा ही हुआ तुमने यह सवाल नहीं पूछा।" "क्यों?" मैंने कुछ अप्रतिभ होकर पूछा। "इसीलिए कि शायद वह समझते कि तुम उनके खिज़ाब की ओर इशारा कर रहे हो।" खिज़ाब! मैं थोड़ा अचंभित हुआ। झासाहब कहते गए, "लेकिन सिन्हासाहब का खिज़ाब आयु के खंडहरों को छिपानेवाली पुताई नहीं है, बल्कि उनके अंतस में जो नयापन और जवानी है,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी को प्रदर्शित करनेवाला वातायन है।"

बात गहरी थी। बहुत-से लोग उपकरणों का सहारा इसलिए लेते हैं कि असलियत ज़ाहिर न होने पाए; वे अपने और दूसरों के लिए एक फ़ैंटेसी—काल्पनिक चित्र—प्रस्तुत करना चाहते हैं। लेकिन सिन्हासाहब की असलियत थी उनकी ताज़गी और यदि उनके शरीर का कोई अंग उस ताजगी की अभिव्यक्ति में बाधा देता था, तो निस्संकोच असलियत को जाहिर करनेवाले उपकरण का उन्होंने सहारा लिया। इसीलिए उन्होंने अन्य साधन भी जुटाए, अपनी सजग और उल्लसित प्रवृत्तियों के उपयुक्त वातावरण को जारी रखने के लिए। उदाहरणत:, भोजन ! सन् '४१ की बात है। मैं उसी वर्ष सरकारी नौकरी में आया था और चूंकि मेरी तैनाती बिहार प्रांत में हुई, इसलिए पहली बार पटना की लघु-यात्रा पर बिहार के वरिष्ठ और सर्वमान्य नेता डॉ० सिन्हा के दर्शन करना लाज़िमी था। अपने मित्र और मेज़बान त्रिवेणीप्रसाद सिंह से कहा और उन्होंने टेलीफोन किया। बोले, "ज़रूर आओ। आज ही शाम को···और···सुनो, तुम दोनों खाना भी यहीं खा लेना। तुम तो जानते ही हो, आज तक अकेले खाना मैंने कभी खाया ही नहीं।"

अकेले खाना कभी नहीं खाया ! सिन्हासाहब की पत्नी बहुत पहले ही जाती रही थीं। मेरी पीढ़ी के लोगों के लिए यह उस परदे के पीछे की बात थी, जो कभी का गिर चुका था। लेकिन उनके विधुर-जीवन को हम लोगों ने भरा-पूरा ही देखा। उनकी घर-गिरस्ती का दायरा कभी संकीर्ण नहीं हुआ। पटना में कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—विदेशी अथवा भारतीय—आये, तो यह निश्चित था कि वह सिन्हासाहब के यहां ठहरेगा, अथवा कम-से-कम भोजन तो उनके यहां ही करेगा। कोई स्वार्थ नहीं, कोई चाटुकारिता नहीं। केवल अधिकार। पुराने लोगों में पटना में श्री पी० आर० दास को छोड़कर वही एक बच गए थे सन् '४० तक आते-आते। इसीलिए उन्हीं का सत्वाधिकार था प्रांत के विशेष अतिथियों पर, और वह शान के साथ उस अधिकार का उपयोग करते।

वह डिनर टेबिल ! देश के बड़े-से-बड़े राजनीतिक नेताओं से लेकर गवर्नरों और वाइसराय के एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिलर तक, और पाश्चात्य देशों के प्रकांड विद्वानों से लेकर छोटे-मोटे तुक्कड़ कवियों तक—सभी तो उस टेबिल पर खा चुके थे। ख़ुद तो कम ही खाते, लेकिन इंतज़ाम पूरा होता। फिर भी भोजन गौण था,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वातावरण प्रधान। सरोजिनी नायडू को छोड़कर उस ज़माने में यदि कोई व्यक्ति ऑटोक्रैट ऑफ़ डिनर टेबिल (डिनर टेबिल का एकाधिपति) कहा जा सकता था, तो वह थे डॉ० सिन्हा। किस शान के साथ वह उन मजलिसों की सदारत करते! चर्चा होती, पुरानी और नई तत्कालीन समस्याओं का विवेचन होता, कुछ छींटा-कशी होती, कुछ स्मृति-रेखाएं उभरतीं। लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि उस डिनर टेबिल के चारों ओर किसी के भाग्य का निपटारा होता या प्रांत अथवा देश की राजनीतिक समस्याओं के बारे में गुपचुप निर्णय होते। शायद मांटफ़ोर्ड रिफ़ॉर्म्स के बाद, जब कुछ समय के लिए डॉ० सिन्हा बिहार के एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिलर थे, तब भले ही उस तरह की वार्ताएं होती रही हों। किंतु स्वभावतः डॉ० सिन्हा के व्यक्तित्व की यमुना वासुदेव के चरणों के समान गांभीर्य के चरण-स्पर्श करते ही लौट आती अपने चिरपरिचित कलकल ध्वनि-गुंजित प्रवाह पर।

क्या गंभीर विवेचन और वार्ता सच ही उनके स्वभाव के विपरीत थे? ऊपर से हम लोगों को अकसर ऐसा ही जान पड़ता। १९४६-४७ में बिहार विधान सभा में किसी गंभीर मसले पर (शायद सांप्रदायिक झगड़ों के संबंध में) बहस हो रही थी। मेरे मित्र श्री लल्लनप्रसाद सिंह, जो उस समय सांप्रदायिक झगड़ों के विषय में प्रबंध के लिए पटना ज़िले के विशेष अधिकारी बनाये गए थे, आफ़िशियल गैलरी में बैठे थे। मैं भी वहीं था। डॉ० सिन्हा विधान सभा के सदस्य थे। हम लोगों के क़रीब आये और कुछ हलकी-फुलकी बातें करके चले गए। लल्लनप्रसाद सिंह बोले, "क्या यह व्यक्ति अवसर की गरिमा को नहीं पहचानता या जान-बूझकर इस समय भी गंभीर मसलों से परे रहना चाहता है?" लेकिन दो बरस में ही लल्लनप्रसाद सिंह डॉ० सिन्हा को और क़रीब से देख सके। कभी-कभी शाम को वह सिन्हासाहब के निजी कमरे में जा पहुँचते। तब शायद उन्हें मालूम हुआ, जैसा मुझे भी आभास हुआ कि सच्चिदानंद सिन्हा जीवन के समतल पथ पर ही नहीं चले हैं, घाटियों और चट्टानों पर से भी गुज़रे हैं। उन्होंने मेलों की छटा देखी है, लेकिन बटमारों और पाकिटमारों के करतब भी देखे हैं; वह जानते हैं कि कौन नट कैसी कला दिखा सकता है, पैर किसके सधे हैं, आंखें किसकी पैनी हैं। आदमी की खरी पहचान जीवन में गहराई से पैठनेवाला ही कर सकता है, लेकिन अकसर यह खुर्दबीन जिसके हाथ लगा, वह वितृष्णा और कटुताभरी बातें कहने में विशेष प्रकार की आत्मतुष्टि पाता है। सच्चिदानंद सिन्हा इस कटुता से क्योंकर बच सके, इसके

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि कटु प्रसंगों से कोई काम पूरा होने में सहायता नहीं मिलती—यह उन्होंने अपने अनुभव से पहचाना होगा। और दूसरे यह कि कटुता तो उसी पर हावी होगी, जो अपने जीवन के कर्मक्षेत्र में दांत भींचे, मुट्ठियां बांधे, पसीना बहाता हुआ, सफलता के लिए जूझ पड़ा हो; जो अपने जीवन को एक के बाद एक 'मिशनों' का तांता मानकर, एक हाथ में खड्ग और दूसरे में ध्वज लेकर प्रगति का पथिक बना हो। सफलता की मरीचिका के फेर में शायद सिन्हासाहब पड़े नहीं और यदि पड़े, तो असफलता की बालुका-राशि उनकी आंखों में किरकिरी बनकर गड़ी नहीं। लगता कि अपनी असफलताओं की स्मृतियों को उन्होंने ऐसे ही तिरस्कृत कर दिया, जैसे वह अपने बढ़िया सिले और धुले सूट पर से आकस्मिक आ पड़ी धूल को झाड़ देते हों। मिशनरी की भांति समाज और राजनीति को पलट देने की आकांक्षाओं के आग्रह से सिन्हासाहब बरी रहे। भारतवर्ष में आदर्शवादिता और आवेशपूर्ण प्रेरणाओं के उस युग में शायद सिन्हासाहब तथ्यपरकता, मनमौजीपन और हलकी-सी अनास्था के प्रतीक थे।

शायद! शायद इसलिए कि एकाध चीज में उनका मोह और उनकी लगन की प्रबलता झांकी देती थी ऐसे अंतस्तल की, जो आदर्शों से आलोड़ित तो होता था, लेकिन शब्दों में उन आदर्शों को प्रकट करना नहीं चाहता था। सिन्हा लाइब्रेरी बिहार को उनकी अमर देन है। वह उनकी अपूर्व निधि भी थी, जिसे उन्होंने बड़े शौक़ से अनेक वर्षों में संवारकर तैयार किया था। अनगिनती पुस्तकें उन्होंने खरीदीं; अनगिनती ही उनके पास भेंट-स्वरूप आईं। जब कोई पुस्तक आती, तो जैसे उनकी हृत्तंत्री का कोई तार छू जाता; लाल-नीली पेंसिल उठाते; पहले पृष्ठ पर अपना नाम लिखते (क्या दबंग दस्तखत थे उनके!) और पढ़ने बैठ जाते। आद्योपांत तो कम ही पुस्तकें पढ़ पाते, लेकिन जगह-जगह डुबकियां लगाते और लाल-नीली पेंसिल से रेखाएँ खींच देते। सिन्हा लाइब्रेरी के पाठकवृंद उन रेखाओं से सुपरिचित हैं। ज़ाहिरन वे रेखाएं पुस्तकों के मालिक के अधिकार की द्योतक हैं, किंतु उनके पीछे पुस्तकों के एक अनन्य उपासक, पुस्तकालयों की महिमा के पोषक, ज्ञान-राशि के विस्तार के समर्थक सिन्हासाहब की मौन आदर्शवादिता है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि उस लाइब्रेरी के प्रबंध की उपयुक्त व्यवस्था हो जाए। ट्रस्ट पहले से मौजूद था, लेकिन आवश्यकता यह थी कि सरकारी उत्तरदायित्व भी स्थिर हो जाए। ऐसा मसविदा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार करना कि जिसमें ट्रस्ट का अस्तित्व भी न टूटे और सरकार द्वारा संस्था की देख-भाल और पोषण की भी गारंटी मिल जाए, ज़रा टेढ़ी खीर थी। एक दिन एक चाय पार्टी के दौरान सिन्हासाहब मेरे पास चुपके-से आकर बैठ गए। सन १९४९ की बात है। मैं नया-नया शिक्षा-सचिव हुआ था, लेकिन सिन्हासाहब की मौजूदगी में मेरी क्या हस्ती ? इसीलिए जब वह मेरे पास बैठे और ज़रा विनीत स्वर में उन्होंने सिन्हा लाइब्रेरी की दास्तान कहनी शुरू की, तो मैं सकपका गया। मन में सोचने लगा कि जो सिन्हासाहब मुख्यमन्त्री, शिक्षा-मंत्री और गवर्नर तक से आदेश के स्वर में सिन्हा लाइब्रेरी-जैसी उपयोगी संस्था के बारे में बातचीत कर सकते हैं, वह मुझ-जैसे कल के छोकरे को क्यों सिर चढ़ा रहे हैं ? उस वक्त तो नहीं, किंतु बाद में ग़ौर करने पर दो बातें स्पष्ट हुईं : एक तो यह कि मैं भले ही समझता रहा हूं कि मेरी लल्लो-चप्पो हो रही है, किंतु वस्तुत: उनका विनीत स्वर उनके व्यक्तित्व के उस साधारणतया अलक्षित और आर्द्र पहलू की आवाज़ था, जो पुस्तकों तथा सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति उनकी भावुकता के उमड़ने पर ही मुखरित होता था।

और दूसरी बात यह स्पष्ट हुई कि सिन्हासाहब क़ायदे के पाबंद हैं। पुराने ज़माने में मिनिस्टर के ओहदे पर रह चुके थे, जबकि अंग्रेज़ अफ़सर और गवर्नर इत्यादि सरकारी कारबार में सीढ़ी फलांगने को नापसंद करते थे; यानी चाहते थे कि सरकारी मामलों में प्रस्ताव इत्यादि नियमानुसार ही आगे बढ़ें और पहले उन अफ़सरों इत्यादि के हाथों गुज़रें, जो महकमे की बाज़ाब्ता कार्यविधि के लिए ज़िम्मेदार हैं। यह एक तरह का सरकारी शिष्टाचार था, जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की हलचल में प्राय: तिरोहित हो गया है। सिन्हासाहब ने इसीलिए पहले मुझसे ही बात करना मुनासिब समझा। शिष्टाचार और क़ायदे की पाबंदी के अनेक उदाहरण उनके जीवन में बिखरे पड़े थे। एक बार उनके यहां किसी कमेटी की मीटिंग हो रही थी। मैं भी मौजूद था। किसी कार्यवश मुझे टेलीफ़ोन करने की ज़रूरत आ पड़ी। सामने ही उनका टेलीफोन था। मैंने उनसे पूछा, "सर, क्या आपका टेलीफोन इस्तेमाल कर सकता हूं ?" उन्होंने अनुमति दी और कमेटी के सदस्यों से बोले, "देखा इस युवक को ! कितनी तमीज है कि मुझसे पूछकर ही टेलीफ़ोन उठाया ? श्री···, अगर तुम होते, तो बिना पूछे, भड़भड़ाकर टेलीफोन उठाकर बात करने लगते।" यह सुनते ही मेरी तो सिट्टी गुम हो गई, क्योंकि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन सज्जन से उन्होंने यह बात कही थी, वह प्रांत के एक प्रभावशाली व्यक्ति थे और मेरे लिए बुजुर्ग के समान।

लेकिन सिन्हासाहब के लिए भला कौन बुजुर्ग और कौन बड़ा? फटकारने का मौक़ा आता, तो किसी को भी न छोड़ते और मुरव्वत या लिहाज़ के कारण नरमी नहीं बरतते। यूनिवर्सिटी-बिल-संबंधी कमेटी की मीटिंग का ज़िक्र है। किसी सिद्धांत पर बहस हो रही थी। यद्यपि सिन्हासाहब उस कमेटी की प्रायः सभी मीटिंगों में शामिल हुए, तथापि वह ज्यादा मीन-मेख नहीं निकालते थे और वाद-विवाद में कम ही हिस्सा लेते थे। यह ज़रूर था कि मीटिंग प्रायः उन्हीं के घर होती थी और अकसर उन्हीं के खर्चे पर हम लोग चाय-शर्बत पीते और इधर-उधर की दिलचस्प बातें भी सुनने को मिलतीं। अस्तु, सिद्धांत पर होती हुई उस गरम बहस से भी सिन्हासाहब अलग ही थे, यद्यपि मुझे ऐसा लगा कि जो दृष्टिकोण मैं प्रतिपादित कर रहा था, उसमें उनकी सहमति थी। शिक्षा-मंत्री के अतिरिक्त एक और माननीय मंत्री भी थे, जो उस मामले पर मुझसे अलग राय रखते थे और बड़े तीव्र स्वर में मेरी बात का खंडन करने लगे। मैं भी ऊंचे स्वर में बोलने लगा और एक तरह की शाब्दिक रस्साकशी होने लगी। हठात् हम लोगों ने सुना सिन्हासाहब का दबंग और प्रतारणापूर्ण स्वर, "माथुर, मैं यह हरगिज़ नहीं बरदाश्त कर सकता कि एक सेक्रेटरी इस तरह एक माननीय मन्त्री की बात का बार-बार विरोध करे। भूलो मत, तुम सचिव-मात्र हो। तुम्हारा काम है तथ्यों और आवश्यक सूचना को कमेटी के सामने रखना और हरएक समस्या के विभिन्न पहलुओं को समझाना। तुम्हें यह अधिकार नहीं है कि तुम वाद-विवाद के दौरान मंत्रियों की बात का विरोध किए जाओ। फ़ाइलों की बात दूसरी है। वहाँ तुम निस्संदेह विरोध प्रकट कर सकते हो, पर कमेटी में नहीं।"

फटकार बिलकुल सही थी और उसे मैंने गुरुमंत्र के तुल्य मन में धारण किया। असल में झाड़-फटकार करते रहने के बावजूद सिन्हासाहब भीतर से स्नेही व्यक्ति थे और मुझे बराबर उनका स्नेह मिला।

कई छोटी-छोटी बातें याद आती हैं। नौकरी के लिए परीक्षा में बैठने के बाद मुझे धुन सवार हुई कि अंग्रेज़ी में हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखूं। लगभग अपरिचित होते हुए भी सिन्हासाहब को लिखा। उनका तुरंत उत्तर आया और साथ में सिन्हा लाइब्रेरी में अंग्रेज़ी में हिंदी-विषयक जितनी पुस्तकें थीं, उनकी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ेहरिस्त भी। जब मैं उड़ीसा के संबलपुर ज़िले में तैनात था, तब वहीं १९४३ में मेरे पिता का देहावसान हुआ। किसी अखबार मे समाचार पढ़कर सिन्हासाहब ने झट से संवेदनासूचक तार भेजा, यद्यपि उस समय तक भी मेरा परिचय अल्प ही था और मैं कोई सत्ताधारी अफ़सर तो था नहीं। वस्तुतः अगर कोई उनके साथ सत्ताधारी का-सा व्यवहार करता, तो उसे मुंह की खानी पड़ती। स्नेहपात्रों पर न सिर्फ़ वरद हस्त होता, बल्कि उनकी छोटी-से-छोटी उपलब्धियों पर तुरंत शाबाशी देते। हाजीपुर सब-डिवीज़न में १९४५ में मैंने वैशाली महोत्सव का श्रीगणेश किया। किसी अखबार में सराहना करते हुए टिप्पणी निकली। सिन्हासाहब ने कटिंग मेरे पास भेजी और दस-बारह शब्द अपनी ओर से शाबाशी के जोड़ दिए।

छोटी-सी बात, लेकिन कितने बड़े लोगों को इन नन्हे अमृत-बिंदुओं का ध्यान रहता है, जिनके सहारे ही तो अगणित हृदयों को जीता जा सकता है? सिन्हासाहब इस कला में जन्मजात दक्ष थे। अनायास ही वह प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को उत्साहित कर देते थे। बहुत पहले की बात है—शायद १९०३-४ की, जब सिन्हासाहब का अंग्रेज़ी मासिक पत्र 'हिंदुस्तान रिव्यू' नया ही था। दिल्ली से एक अपरिचित लेखक की रचना आई, जिसमें ईसाई धर्म की बेहद प्रशंसा थी। सिन्हासाहब थोड़ा हिचके, लेकिन लेख असाधारण था। उसकी भाषा और अभिव्यंजना एक प्रतिभासंपन्न लेखनी की द्योतक थी। उन्होंने छाप दिया। उस युवक लेखक की असाधारण लेखनी ने तहलका मचा दिया, और कुछ दिनों बाद वह मेधावी पुरुष अपनी प्रखर विचार-शैली और उग्र राजनीति के कारण सर्वप्रसिद्ध हो गया। कुछ समय बाद सिन्हासाहब किसी कार्यवश दिल्ली गये, तो स्टेशन पर एक व्यक्ति ने मिलते ही उनके चरण छुए, "मैं ही हरदयाल हूं।" हरदयाल!— विलक्षण स्मरण-शक्ति से संपन्न हरदयाल, भारतवर्ष के क्रांतिकारियों में अग्रणी, ग़दर पार्टी के कर्णधार, अंग्रेज़ी राज के कट्टर दुश्मन हरदयाल, हमेशा के लिए सिन्हासाहब के स्नेहपात्र बन गए।

यों क्रांतिकारियों और उग्र राजनीति से सिन्हासाहब का कभी वास्ता नहीं रहा। वह नरम दल के समर्थक थे—लिबरल। गांधीजी की राजनीति और आंदोलनों से वह प्रायः दूर ही रहे। वह युग ही दूसरा था और गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश होने तक देशभक्ति के अनेक मापदंड थे। किंतु अपने-अपने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित क्षेत्रों में देश को जागृत करने में अनेक संभ्रांत और तेजस्वी व्यक्तियों ने हाथ बंटाया। सच्चिदानंद सिन्हा, अली इमाम, गणेशदत्त सिंह, इत्यादि ने उस समय बिहार के शिक्षित मध्यवर्ग को नई चेतना देकर एक ऐसा समूह तैयार किया, जिसमें से परवर्ती राजनीतिक आंदोलनों के लिए कृतसंकल्प और सुयोग्य नेतृत्व मिल सका। सिन्हासाहब ने अपनी आंखों के सामने आमूल परिवर्तन होते देखे। निश्चय ही उनकी दृष्टि में राजनीति की वह उग्र और कोलाहलपूर्ण गतिविधि अटपटी जान पड़ी होगी। स्निग्ध वातावरण के आदी लिबरल सिन्हासाहब को धूलि-धूसरित क़दमों का खुरदरापन अशोभन लगा होगा। किंतु स्वभावतः सिन्हा-साहब बाह्य परिस्थितियों के कारण अपने को त्रस्त और क्षुब्ध बनाने के लिए तैयार नहीं थे। इसीलिए अन्य लिबरलों की तरह वह सक्रिय राजनीति में सराबोर नहीं हुए। मीटिंगों में भाग लेते, लोगों से चर्चा करते, कभी-कभी अखबारों में भी लिखा-पढ़ी करते, लेकिन सिरदर्द मोल लेने की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। इसीलिए वह अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक नेता कभी नहीं हुए। किंतु उनकी सलाह अकसर ली जाती और आना-जाना तो उनके यहां लगा ही रहता। सन् १९४६ तक आते-आते एक वरिष्ठ नेता के रूप में उनका बराबर समादर होता रहा और जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद दिल्ली में कांस्टिट्यूएंट एसेंबली भारतवर्ष का संविधान बनाने बैठी, तो उसके सबसे वयस्क सदस्य होने के नाते डॉ० सच्चिदानंद सिन्हा ही एसेंबली के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और उन्हीं के सभापतित्व में एक तरह से उनके अनुज, डॉ० राजेंद्रप्रसाद, अध्यक्ष चुने गए।

कुछ समय बाद डॉ० सिन्हा बीमार रहने लगे। संविधान बनकर तैयार हो गया और उसके चालू होने से पहले यह आवश्यक था कि एसेंबली के समस्त सदस्यों के संविधान-पत्र पर हस्ताक्षर हों। डॉ० सिन्हा पटना में बीमार पड़े हुए थे और हस्ताक्षर करने के लिए उनका नई दिल्ली पहुंचना असंभव था। प्रथम अध्यक्ष के हस्ताक्षर यों भी अनिवार्य थे। एक दिन हम लोगों ने सुना कि भारतवर्ष का संविधान पटना आ रहा है। अपूर्व दृश्य था वह! रोगी की शय्या से सिन्हासाहब ने अपनी लंबी ज़िंदगी के अंतिम छोर पर से (जिसका दूसरा छोर उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी सत्ता के मदोन्मत्त वातावरण में रहा होगा) स्वतंत्र भारत के नव-संविधान पर हस्ताक्षर किए। लेकिन उससे भी अधिक विह्वलकारी दृश्य था तब, जब राजेंद्रबाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल पटना पहुंचे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उन्होंने सिन्हासाहब के चरण छूकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। जो लोग उस समय उपस्थित थे, उनकी आँखों के सामने भीष्म पितामह का चित्र खिच गया।

उनका यह अंतिम चित्र शायद कुछ भ्रम पैदा कर दे। निश्चय ही कुछ मानी में सिन्हासाहब का वह रूप भीष्म पितामह का-सा रहा होगा; अपने जीवन-काल में देश के स्वप्नों को प्रतिफलित होते देखकर उन्हें शांतिदायक संतोष की उपलब्धि हुई होगी। राष्ट्रपति के लिए आशीर्वाद अंतस्तल के गहनतम कोर से मुखरित हुआ होगा। यह सब सत्य है। लेकिन यह भी सत्य है कि एक पितामह की-सी निस्संगता उन्होंने कभी नहीं चाही। दुनिया की हँसी-खुशी से ऊपर उठकर इस रंगस्थली के खिलाड़ियों पर लोकोत्तर, निर्विकार मुस्कान-भरी दृष्टि डालना उन्हें नहीं सुहाया। वह रहस्य-भरी मुस्कान में नहीं, ठठाकर हँसने में यक़ीन करते थे—वह हँसी, जो सब रहस्यों का उद्घाटन कर दे; वह हँसी, जो उम्र के परदों को हटाकर सबको एक ही मंच पर ला बिठाए। इसलिए उनकी बातचीत में विनोद का सतही खुलासापन मिलता था, जिसका सब कोई आनन्द उठा सकते थे, न कि व्यंग्य की सांकेतिक सिकुड़न, जिसे दो-चार ही समझ सकें। डॉ० अमरनाथ झा ने एक क़िस्सा सुनाया। प्रयाग विश्वविद्यालय की सीनेट की मीटिंग थी। सीनेट विश्वविद्यालय की सबसे महत्त्वपूर्ण परिषद थी और उसके सदस्यों को 'फ़ैलो' कहा जाता है। अंग्रेज़ी में 'फ़ैलो' शब्द का एक और अर्थ भी है—जो शेक्सपियर की रचनाओं में विशेषतः प्रयुक्त हुआ है—और जिसे हिंदी के मुहावरे 'ऐरा-ग़ैरा नत्थू-खैरा' का पर्याय माना जा सकता है। सीनेट की मीटिंग से पहले कोई सज्जन डॉ० सिन्हा के पास आकर पूछने लगे, "सर, आर यू ए फ़ैलो ?" (महोदय, क्या आप फ़ैलो हैं ?) डॉ० सिन्हा ने उत्तर दिया, "नो सर, आई एम ए जेंटलमैन।" (नहीं महोदय, मैं तो एक भद्रपुरुष हूं।) हँसी के फ़व्वारे छूट पड़े।

सारी ज़िंदगी उन्होंने इसी तरह हँसते-खेलते गुज़ारी। हो सकता है कि अपनी युवावस्था में उन्हें अनेक कटु अनुभव हुए हों। बिहार से विलायत जानेवाले पहले हिंदुओं में से वह थे और लौटने पर शायद उन्हें खासे विरोध का सामना करना पड़ा। अपनी जाति के वर्ग-विशेष के बाहर उन्होंने शादी की। संतान कोई हुई नहीं, इसलिए एक दत्तक पुत्र लिया। हमेशा अपने रहन-सहन का ढंग आलीशान रखा। मजाल क्या कि रुपये की तंगी का आभास किसी पर हो जाए ! अतिथि-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्कार, अच्छे कपड़े, अच्छा भोजन, हमेशा मजलिस की क़हक़हेबाज़ी, हमेशा आने-जानेवालों का तांता—ऐसी थी उनकी दैनिक-चर्या। जीवन-यापन उनके लिए काल-यापन नहीं था। किसी पारलौकिक जीवन की तैयारी में उन्होंने अपने तात्कालिक अनुभवों को नीरस नहीं होने दिया। उमंगों को दबाया नहीं। मौज की छानी। कटुता को पास फटकने नहीं दिया। कर्मक्षेत्र में 'ऐमेचर' रहे, लोक-व्यवहार में निपुण कलाविद। मत्स्यगंधा की तरह चिर-नवीन आनंद की सुगंध में स्वयं तो विभोर रहे ही, औरों को भी सुवासित करते रहे। ऐसों ही को लक्ष्य करके शायद चंडीदास ने कहा, "सबाई उपरे मानुष तार ऊपरे केउ नाइ।"

डॉ० राम स्वरूप आर्य [illegible] गौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रष्टा, कर्ता और कवि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधींद्रनाथ दत्त
(बंगला कवि, पत्रकार और पर्यटक)

जन्म : ३० अक्तूबर, १९०२। शिक्षा प्रयाग और कलकत्ता में। रवींद्रनाथ ठाकुर के निकट संपर्क में आये। उनके साथ विदेश-भ्रमण पर गये। कई वर्ष तक अंग्रेज़ी दैनिक 'स्टेट्समैन' के उप-संपादक रहे। तदुपरांत दामोदर वैली कार्पोरेशन के सूचना विभाग के अध्यक्ष रहे। अंत में जादवपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। रचनाएं : 'तन्वि', 'आर्केस्ट्रा', 'क्रंदसी', 'स्वगत', 'उत्तरफाल्गुनी', 'संबर्त्त' इत्यादि।

मृत्यु : जून, १९६०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधींद्रनाथ दत्त जिस वर्ग के बंगला साहित्यकारों में अग्रणी थे, वैसा वर्ग हिंदी में अभी तक क्षितिजवासी ही है। अज्ञेयजी का आभिजात्य कुछ झिझकता-सा, टोह लेता-सा वारिद-खंड मात्र है, बरसकर रससिक्त करनेवाला मेघपुंज नहीं। बंगला में अभिजात साहित्यकारों की परंपरा पुरानी है—प्रिंस द्वारिकानाथ, राजा राममोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, माइकेल मधुसूदन दत्त, केशवचंद्र सेन, रवींद्रनाथ ठाकुर, सुधींद्रनाथ दत्त—एक अविकल शृंखला मेरुदंड के तुल्य बंगला-साहित्य और संस्कृति को सामर्थ्य और समृद्धि देती रही है।

मेधा-जन्य सामर्थ्य और अध्ययन-प्रसूत समृद्धि का लघु, किंतु अविस्मरणीय साक्षात्कार हुआ मुझे कलकत्ता में १९ जून, १९६० के उस मध्याह्न को सुधीन दत्त की मृत्यु से केवल छः दिन पहले। उनसे वह मेरी दूसरी मुलाक़ात थी। अदृष्ट की निर्मम छाया ऊपर मंडरा रही थी और हमें गुमान भी न था। कलकत्ता रेडियो के अध्यक्ष श्री पी० सी० चटर्जी ने मुझे दोपहर के खाने पर बुलाया था। मेरे ऊपर दया करके उन्होंने ऐसे लोगों को आमंत्रित नहीं किया था, जिनसे मेरा सरकारी रूप में सरोकार हो। इसलिए ड्राइंग रूम में केवल चार अन्य मेहमानों को देखकर मैं चिंतामुक्त हुआ। परिचय का शिष्टाचार—श्रीमती रीड, जो इला-सेन के नाम से अनेक पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेज़ी लेख लिखती रही हैं; श्री बुद्धदेव बसु, ख्यातिनाम बंगाली कवि; श्रीमती राकेश्वरी दत्त, हँसमुख एवं सहजाकर्षण-संपन्ना कवि-भार्या और श्री सुधींद्रनाथ दत्त।

हाथ मिलाते समय मैंने देखा सुधीन दत्त का चेहरा, नौ वर्षों में कुछ भर-सा गया था। मैं बोला, "बहुत दिनों बाद मुलाक़ात हुई। देखता हूँ, आपका वज़न कुछ बढ़ा है।" वह अपनी पत्नी की ओर मुखातिब होकर बोले, "सुनती हो, माथुरसाहब मेरा अपमान कर रहे हैं!" मैंने पूछा, "क्या ख़ता हुई?" बोले, "आपने तो मुझे मोटा, बुड्ढा और बेडौल करार दिया! यह अपमान ही तो है।" मैंने राजेश्वरीजी से कहा, "देखी आपने कवि की कल्पना! मैंने तो सिर्फ़ मुटापे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर संकेत किया था; कवि ने उसे परिमार्जित-वर्धित कर दिया ।"

सुधीन दत्त का व्यक्तित्व निस्संदेह कमनीय और प्रभावशाली था । गौर वर्ण, उच्च स्कंध, विस्तृत ललाट ! आंखें बंगाली परंपरा के प्रतिकूल—कुछ तिरछी और अर्धोन्मीलित थीं, लेकिन पैनी बुद्धि और अंतर्वेधिनी दृष्टि के सर्वथा योग्य ! यद्यपि उनके सिर के बाल ग़ायब हो चले थे, तथापि १९ जून को मुझे यह अंदाज़ नहीं हुआ कि वह ५९ वर्ष के हो चले थे । देखने में वह पचास वर्ष से कम ही आयु के लगते थे। उस दिन उनकी निर्द्वंद्व क़हक़हेबाज़ी और निश्शंक चुहल-भरी आवाज़—रोग, जरा और मरण के लिए चुनौती थी।

ऐसा मुझे प्रतीत हुआ । लेकिन कौन जाने ? सुधीन दत्त की एक कविता है—'बेघरबार' (The Vagrant) । एक तोता जिस वृक्ष पर अपना घोंसला बनाए बैठा था, वह हिला और तोते को घोंसले से ऊपर उड़ जाना पड़ा । प्रभंजन प्रचंड वेग से रौरव कर रहा था । सहसा अंधेरी रात आई । हवा शांत हो गई। लेकिन रात जड़ नहीं, सक्रिय है । और

बये की तरह दक्ष
यह क्षण, परेशान एल्म वृक्षों को
अखंडित आत्म-विश्वास की नौका-सी बना डालता है,
किंतु—
बवंडरों की उठान में उलझा
वह तोता भटकता ही रहता है जब तक कि—
महाशून्य
विजयोल्लास के साथ उसे आवृत नहीं कर लेता ।

शायद महाशून्य अपने ग्रास के लिए सर्वदा तत्पर रहता है लेकिन अपने घोंसले से गुमराह हुए बिना ही तोता उसका शिकार क्यों बने ? उस दिन सुधीन दत्त और राजेश्वरीजी को देखकर तो घोंसला अक्षुण्ण ही जान पड़ा। कवि के अनुरूप ही कवि-भार्या । सुधीन दत्त अपनी हाल ही की यूरोप-यात्रा के अनुभव सुना रहे थे । बोले, "मेरी बड़ी मौज थी । जहां जाता, लोग मेरी प्रियदर्शनी सहचरी पर मोहित हो जाते और इस बहाने मेरी ख़ूब खातिर होती ।" अपने और भी अनुभव बताए । कैसे बिना बुक कराए पति-पत्नी रात के तीन बजे तक एक नगर में होटल खोजते फिरे; कैसे एक स्थान पर स्टीमर का टिकट भूल गए,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे पेरिस में 'विला' की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ा। विविध अनुभव, अलमस्त और बेफ़िक्र व्यवहार, अभाव के त्रास से बिलकुल मुक्त, सहचरी, सहकर्मिणी, सहभावाश्रयी पत्नी से युक्त !

संपन्न वातावरण में सुधीन दत्त का सारा जीवन ही बीता है। दत्त-वंश को अच्छी-खासी जायदाद मिली हुई थी। पिता हीरेंद्रनाथ दत्त अपने समय में कलकत्ता के मंजे हुए सालिसिटर थे। कार्नवालीस स्ट्रीट में बहुत बड़ी कोठी थी। पिता न सिर्फ़ समृद्ध थे, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के पोषक और संस्कृत के प्रकांड विद्वान् भी। शायद इसीलिए सुधीन दत्त के परवर्ती काव्य की अप्रस्तुत योजना और बिंब-विधान में संस्कृत-काव्य-परिपाटी के तुल्य ही नक़्क़ाशी और शिल्प मिलते हैं, यद्यपि उनके बाद के संस्कार और व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनुभव उसके बिलकुल विपरीत थे। इसलिए उन्होंने संस्कृत काव्य-परंपरा से केवल शिल्प-सौष्ठव ग्रहण किया; और इस रूप में उनकी कला आधुनिक बंगला काव्य में परंपरागत गरिमामयी क्लासिकल-शैली की तरह मान्य हो गई। शब्द-चयन और पद-विन्यास के जो आदर्श उन्होंने अपने सामने रखे, उनकी प्राप्ति के लिए विशेष संयम और नियंत्रण अपेक्षित थे। अपनी रचना के प्रति मोह किसी भी कवि के लिए स्वाभाविक है। एक बार जो चीज़ क़लम से निकली, वह मानस-पुत्र की भांति वात्सल्य के ही योग्य है, मीन-मेख के लिए नहीं। किंतु सुधीन दत्त मानस-पुत्र का तटस्थ होकर निरीक्षण कर लेते थे। उनकी प्रथम काव्य-पुस्तक का नाम था 'तन्वि' और दूसरी का 'आर्केस्ट्रा'। इस दूसरी पुस्तक 'आर्केस्ट्रा' का उन्होंने जब द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया तो उसे बहुत-कुछ बदल दिया। संस्करणों में ऐसा परिवर्तन शायद ही कोई कवि करता हो। अरसे तक बंगला-साहित्यकारों में इसकी चर्चा चलती रही और मूल एवं संशोधित संस्करणों के गुणावगुणों पर वादविवाद होता रहा।

उस दिन मैंने देखा, सुधीन दत्त और बुद्धदेव बसु का वादविवाद चल रहा था—आधुनिक फ्रांसीसी कवियों के बारे में। विवाद में शामिल होने के लिए आधुनिक यूरोपीय कविता का अध्येता होना आवश्यक था, इसलिए अन्य लोग इधर-उधर की बातों में लग गए। लेकिन दर्शकों पर भी यह स्पष्ट था कि यद्यपि बुद्धदेव बसु गहराई और आवेश के साथ फ्रांसीसी कवियों की विवेचना कर रहे थे, तथापि सुधीन दत्त का सहज आत्मविश्वास मानो दलीलों के वज़न को छांट देता था और अल्प शब्दों में ही सुधीन दत्त सुनिर्मित वाग्व्यूह को भंग कर देते

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे । यह नहीं कि कृत्रिम मौन और बनी हुई उपेक्षाद्योतक मुस्कराहट के बल पर सुधीन दत्त साहित्यिक क्षेत्रों में अपनी सत्ता जमाते हों । एक तरह से उन्हें वाचाल ही माना जाएगा; कभी-कभी तो ऐसी वाचालता कि लगता कि शायद गंभीर एवं शांतचित्त होना उन्हें सुहाता ही न हो । यह भी हो सकता है कि हलकी छींटाकशी और परिहास द्वारा वह अपने मन पर उस वितृष्णा (कंटेंप्ट) को छा जाने से रोकते हों, जो उन अल्पबुद्धि एवं रुचिविहीन व्यक्तियों के कारण उमड़ती हो, जिनकी समाज और साहित्य में कमी नहीं ।

ऐसा मेरा विचार हुआ उस दिन । लेकिन बाद में ऐसे कुछ व्यक्तियों से, जो सुधीन दत्त के निकट संपर्क में आ चुके थे, उनकी सहज मनोहारिता और सहज आत्मविश्वास का दूसरा पहलू ज्ञात हुआ । दामोदर घाटी कार्पोरेशन में कई बरस तक सुधीन दत्त मुख्य सूचनाधिकारी रहे । उनके सहकर्मियों में अनेक प्रवृत्तियों के लोग थे । बहरहाल दो-चार को छोड़कर साहित्य-कला से सरोकार अथवा उनमें विशेष रुचि शायद ही किसी की हो । इंजीनियरों, शासकों, एकाउंट अफ़सरों, ठेकेदारों इत्यादि ही की मजलिसें थीं वहां । लेकिन क्या सुधीन दत्त उन मजलिसों में उखड़े-उखड़े-से रहते ? क्या अपने से विभिन्न रुचि और कम मेधावी व्यक्तियों के बीच वह ऊबने लगते ? ऐसा होना स्वाभाविक ही होता, किंतु मनस्विता—इंटलेक्चुअलिज़्म—एवं सृजनशीलता को उन्होंने साधन माना, उन साधनों से अपने को ग्रस्त नहीं होने दिया । अतः न सिर्फ़ उनकी दृष्टि व्यापक रही, बल्कि काल और परिस्थिति के अनुसार उनका सामाजिक व्यवहार भी विविध गुणसंपन्न रहा । ऐसा व्यवहार बरतने के लिए उन्हें विशेष प्रयास करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी । बड़ी आसानी से वह किसी भी समाज में घुल-मिल जाते । उच्चाधिकारियों के क्लबों में भोजनोपरांत गप्पाष्टक में वह उतने ही तन्मय और मुखरित होते, जितना दफ़्तर के बाबुओं से पूजा की छुट्टियों के पहले विचार-विनिमय करते समय । इंजीनियरों के बीच बैठते, तो ऐसा जान पड़ता कि उनकी मनोदशाओं और अभिरुचियों से पुराना नाता हो, और पत्रकारों तथा राजनीतिक व्यक्तियों के साथ बड़ी उत्सुकता और जानकारी के साथ समसामयिक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि पर विचार प्रकट कर सकते । राजनीतिक मामलों में उनकी विशेष रुचि का सजीव उदाहरण है उनकी कविता '१९४५', जो उन्होंने द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर लिखी और जिसमें उन्होंने विध्वंस और विनाश को मानव-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र की आदितम धरोहर बताते हुए १९४५ की अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को बड़ी स्वाभाविकता से छंदोबद्ध किया है। चित्रकारों और मूर्तिकारों के बीच वह एक सुधी मर्मज्ञ ही नहीं, अंतरंग मित्र की भाँति बैठते। १९४९-५० में मैं बिहार की आर्ट गैलरी के लिए कुछ प्रतिष्ठित कलाकारों की कृतियां खरीदने कलकत्ता गया। सलाह लेने उनके पास पहुँचा। आधुनिक और क्लासिकल ग्रुप दोनों ही की उनमें आस्था थी। अपने दफ्तर के काम में सुधीन दत्त इसी आत्मविश्वास के साथ जुटते, जैसे किसी नई रचना में। वही सुघड़ता, वही सफ़ाई, वही बारीकियों का ध्यान।

बात यह थी कि सुधीन दत्त ने काव्य-साधना करते हुए भी अपने को एक 'नार्मल' मानव, एक समाजाश्रयी नागरिक बने रहने की बराबर चेष्टा की। 'शुद्ध कवि' के एकांगी और संकीर्ण अनुभव में उन्हें अपने काव्य के भी संकीर्ण और कुंठित हो जाने की आशंका हुई। इसलिए साहित्य को उन्होंने जीविका-निर्वाह का एकमात्र साधन नहीं बनाया और न कवि-चर्या से अपने दैनिक जीवन और मनोरंजनों को आच्छादित होने दिया। दूसरा विश्वयुद्ध प्रारंभ होने पर वह कुछ समय के लिए ए० आर० पी० (हवाई हमलों से हिफ़ाज़त) के अफ़सर रहे। कई वर्ष तक अंग्रेज़ी 'स्टेट्समैन' के संपादन-विभाग में काम करते रहे। फिर दामोदर वैली कार्पोरेशन में सूचना-अधिकारी बने। मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व जादवपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक बन गए थे। इस तरह उन्होंने द्रष्टा की तरह ही नहीं, कर्ता के रूप में जीवन के अनेक तट छुए, अनेक घाटों का पानी पिया।

कितने घाटों का पानी पिया, इसकी कोई गिनती नहीं। किशोरावस्था ही में कवींद्र के साथ उन्हें अपनी पहली विदेश-यात्रा का अवसर मिला। उसके बाद जो तांता बंधा, तो चलता ही रहा। शायद वर्तमान भारत के साहित्यकारों में सबसे ज्यादा घुमक्कड़ सुधीन दत्त ही रहे हैं। नाना देशों और समाज में विचरण करके न सिर्फ़ उन्होंने अपने अनुभवों को समृद्ध बनाया, रुचि का परिष्कार किया और भावोन्मेष को नियंत्रित किया, बल्कि अपने लोक-व्यवहार में समता, भाईचारा तथा सहिष्णुता का समावेश किया। जन्म से अभिजात और कवि-कर्म में आत्मरत होने की प्रवृत्ति को उन्होंने इस तरह मोड़ा कि वह बंधुत्व और लोकप्रियता उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई।

फिर भी मूलतः सुधीन दत्त समूह और कोलाहल से ऊपर उठे हुए स्तर के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव थे। रवींद्रनाथ ठाकुर के संपर्क ने शायद उन्हें जहाँ अपनी प्रतिभा के सामर्थ्य से अवगत कराया, वहाँ उन्हें शायद कवींद्र की लीक से हटने की प्रबल आकांक्षा भी दी। बुद्धदेव बसु ने लिखा है कि 'वाल्मीकि' के अप्रस्तुत विधान में विराट का संयत रूप लक्षित होता है; 'कालिदास' में वाल्मीकि के ही कई बिंब-विधान दीखते हैं, लेकिन बारीकी से तराशे हुए। सदियों बाद उनमें से कुछ चित्र रवींद्र में उभरे, किंतु कालिदास के सौंदर्य-विलास और रसिकोल्लास का स्थान लिया एक रूमानी संवेदना, एक कसक-भरी छाया ने, और उसके बाद सुधीन दत्त ने भी उन्हीं में से कुछ बिंबों का प्रयोग किया। इस बार रूमानी उदासीनता को ग्रस लिया महा-नैराश्य के गहन-गह्वर ने। नैराश्य का जो अजस्र स्रोत सुधीन दत्त के मानस को भरता रहता था, वह उनके हँसते-खेलते सामाजिक रूप को अजाने ही एक नक़ाब बनाये हुए था। लेकिन इतना सुदृढ़ था वह नक़ाब, इतनी स्वाभाविक थीं उसकी रेखाएं और इतने मनोहर चिर-चंचल थे उसके रंग कि उसके पीछे झांकने का ध्यान मुश्किल से जाता। और अब भी, जब उनकी महाशून्य से स्पंदित पंक्तियां पढ़ता हूं, तो वही मुदित और प्रदीप्त मुखड़ा रह-रहकर अतिरंजित कालिमा को ज्योतिकिरणों से चीर-सा देता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे पिता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
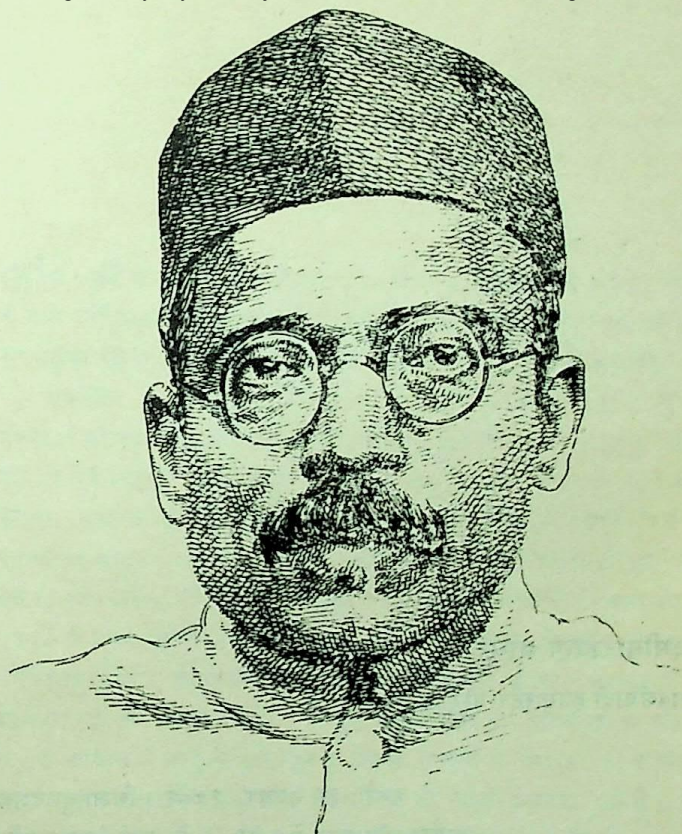
लक्ष्मीनारायण माथुर

(आदर्शवादी हेडमास्टर और शिक्षक)

जन्म : १२ नवंबर, १८८६। शिक्षा बुलंदशहर, आगरा और मेरठ में। १९०० में खुर्जा (उत्तर प्रदेश) के ई० सी० हाई स्कूल में उप-प्रधानाध्यापक और सन १९१२ तक वहां रहने के बाद देहरादून के डी० ए० वी० हाई स्कूल में उसी पद पर चार वर्ष तक रहे। एक वर्ष प्रयाग में ट्रेनिंग के बाद १९१६ में खुर्जा के जे० ए० एस० हाई स्कूल के प्रथम प्रधानाध्यापक बनाये गए और २७ वर्ष तक मृत्युपर्यंत, उसी स्कूल के प्रमुख बने रहे। १९२४ में शिक्षा-संबंधी नूतन प्रयोगों का सूत्रपात किया और बराबर इन प्रयोगों में संलग्न रहे।

मृत्यु : २१ जून, १९४३।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखें स्मृति के आगे परदा डालती हैं—चिर-नवीन दृश्यों का परदा, लेकिन न जाने क्यों कान जानी-पहचानी ध्वनियों की डोर के सहारे-सहारे मन को हठात दूर पहुँचा देते हैं, वर्तमान के तिलिस्म के पीछे, भूली-बिसरी वाटिकाओं में।

एक दिन राष्ट्रपति भवन में डॉ० राजेंद्रप्रसाद के सम्मान में साहित्यिक संस्थाओं की ओर से आयोजित एक उत्सव का आनंद ले रहा था। अंत में 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' का गान हुआ। सहसा लगा कि उस भवन के सारे झाड़-फ़ानूस, भव्य कालीन और परदे, दीवारों और छतों पर रंग-बिरंगे चित्र और दर्शकों का समाज—सब सरोवर की लहरियों की भाँति विलीन हो गए। आंखें बंद हो गईं, लेकिन 'वैष्णव जन' की धुन ने स्मृति-पटल खोल दिए। जान पड़ा कि १९३० में अपने छोटे नगर खुर्जा के हाई स्कूल के बरामदे में बैठा हुआ हूँ। सामने मेरे पिता बैठे हैं। छात्रों और अध्यापकों की छोटी-सी बैठक। बराबर में मेरी बहनें गा रही थीं 'वैष्णव जन तो...'। दूर, सैकड़ों मील दूर, साबरमती का संत २१ दिन के उपवास में मृत्यु से जूझ रहा है, अपनी तपस्या से देश-भर को पावन कर रहा है। क्या बच सकेंगे गांधीजी? मेरे पिता की आँखें डबडबा रही हैं। रोज़ शाम को प्रार्थना होती है। मैंने गद्य-काव्य के रूप में दो प्रार्थनाएं लिखीं—भगवन, क्या हमारी कलुषित आत्मा की इस शुचिता के बाद भी गांधीजी बचेंगे नहीं?

उपवास के दिनों के अतिरिक्त भी तो वे धुनें और गांधीजी का नाम गूंजते थे हमारे स्कूल में। पढ़ाई शुरू होने से पहले सामूहिक प्रार्थना होती थी। आज दिन तो ये साधारण-सी बातें हैं, किंतु सन बीस-तीस में स्कूलों में खुलकर राष्ट्रीय नेताओं के नाम लेने से भी लोग झिझकते थे। १९२८ में गांधीजी हरिजन-फंड के लिए देश-भर का दौरा करने निकले। छात्रों और अध्यापकों ने चंदा जमा करना शुरू किया। दो शिक्षा-संस्थाएं थीं हमारे नगर में। दूसरी संस्था के छात्रों ने तो इस शुभ कार्य में हाथ लगाया, लेकिन उसके प्रधानाध्यापक इत्यादि सरकार के डर से अलग ही रहे। हमारे स्कूल की ओर से स्वयं पिताजी मंच पर थैली लेकर गये।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा भी हमारे स्कूल के खेल के मैदान ही में हुई। गांधीजी के हाथों का स्पर्श, और जो दो बातें उन्होंने पूछीं, हमारे घर में वर्षों तक चर्चा का विषय बनी रहीं। सभा के अंत में गांधीजी ने कुछ उपहारों की नीलामी की। पिताजी ने खादी के एक टुकड़े पर ऊंची बोली लगाकर उसे खरीदा। वह टुकड़ा बरसों तक हमारी बैठक की मेंटिलपीस को सुशोभित करता रहा।

नमक-क़ानून तोड़ने का आंदोलन शुरू हुआ। पिताजी के कई शिष्य संघर्ष में कूद पड़े। बिना गुरु के चरण छुए कैसे जेल-यात्रा होती? इसलिए जलूस प्रायः पहले हमारे घर आता और आशीर्वाद पाकर आगे बढ़ता। न जाने कितने जेलों में ठूंसे गए।

× × ×

काउंसिल के चुनाव के लिए हमारा स्कूल मतदान-केंद्र बनाया गया। कांग्रेस ने इलेक्शन का बायकाट किया। सवेरे से झंडे लेकर स्वयसेवक वोटरों को रोकने के लिए खड़े हो गए। कई छात्र (जिनमें मैं और मेरा छोटा भाई भी शामिल थे) दरवाज़े के आगे लेट गए, ताकि वोटर अंदर न जाने पाएं। किसी ने कलक्टर-साहब के पास ख़बर भेज दी कि स्वयं हेडमास्टर के बच्चे पिकेटिंग में हिस्सा ले रहे हैं। तैश में आकर कलक्टर हम लोगों के ऊपर पैर रखते हुए अंदर चले गए और गोली चलाने की धमकी दी। पिताजी बीमार थे। मेरी दादी बड़ी दबंग महिला थीं। कलक्टरसाहब के पास जाकर उन्हें खूब लताड़ा। "तुम्हें शर्म नहीं आती, नादान बच्चों को कुचलते हुए चले आए?" कलक्टरसाहब बहुत तिल-मिलाए और शहर के तहसीलदार के समझाने पर ही गोली चलाने से बाज आए। मेरी उम्र १३ वर्ष के आसपास रही होगी, और उस उल्लास-भरी संध्या को हम बच्चों का जो सत्कार हुआ, जो मिठाइयां बांटी गईं, उनकी भी याद ताजा है।

किंतु कलक्टरसाहब ने मेरे पिता के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की। बोले, "मिस्टर माथुर को जब तक इस ज़िले से निकाल न दूंगा, तब तक चैन नहीं।" गिरफ़्तार करने के लिए यथेष्ट सबूत न थे। बस स्कूल की सरकारी ग्रांट बंद करवा दी। एक साल तक ग्रांट बंद रही। पिताजी और उनके सहकर्मियों के वेतन घटकर नाम मात्र को रह गए। लेकिन संघर्ष ज़ारी रहा और मेरे पिता ज़िले में क़ायम रहे।

घटना साधारण थी। जहाँ लाखों व्यक्तियों ने अपना सब-कुछ गांधीजी के आह्वान पर निछावर कर दिया, वहाँ यह तो मामूली ही बलिदान माना जाएगा,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हालांकि हम बच्चों को उन दिनों जैसा अभावग्रस्त जीवन गुज़ारना पड़ा, उसका पूरा रहस्य बहुत बाद में मुझ पर ज़ाहिर हुआ। पिताजी की मृत्यु को १७ बरस से ज़्यादा हो चुके थे। एक दिन दिल्ली में मेरे ऑफ़िस में उनके पुराने मित्र बिस्मिलसाहब मिलने आये। बिस्मिलसाहब हमारे नगर के सन '३० के आंदोलन के अगुआ थे। आवाज़ में कड़क, आँखों में चुस्ती, चाल में मस्ती। और अब ७० बरस के वृद्ध बिस्मिल समय की धारा के किनारे छिटके पड़े हैं। न रुतबा, न रुपया, केवल पुरानी यादों का सहारा। पुरानी बातें करते-करते बोले, "जानते हो जगदीश, उन दिनों हमारे क़सबे के सियासी आंदोलन को जिन चंद गुमनाम हाथों ने संभाले रखा था, उनमें तुम्हारे पिता हेडमास्टरसाहब खासुलखास थे।"

"गुमनाम हाथ! कैसे?" मैंने पूछा।

"वही तो अकसर हम लोगों की पैसों की तंगी दूर करते थे। किसी को खबर ही नहीं लगती थी, लेकिन उनका खास सहारा था हम लोगों को।"

सच ही हम घरवालों को इसकी खबर ही न थी, शायद मेरी माँ को भी नहीं। इतना ही हमें मालूम था कि किसी वजह से खर्चा बहुत था और क़र्ज़ लेने पड़े थे।

फिर भी राजनीतिक जीवन में खुलेआम वह कभी नहीं उतरे। उतरते; तो पारिवारिक कठिनाइयों में तो कमी न होती, लेकिन कीर्ति और नेतृत्व उनके हाथ अवश्य आते।

जान-बूझकर उन्होंने कीर्ति और नेतृत्व का पथ नहीं पकड़ा; जान-बूझकर पद और संपदा की लालसा से दूर रहे।

सो क्यों?

सन १९०८ में १९ बरस की आयु में वह अपने कुटुंब के पहले बी० ए० हुए। सारे मेरठ कॉलेज से कुल चार छात्र उस वर्ष बी० ए० पास हुए थे। उन दिनों सेकिंड क्लास ग्रेजुएट के लिए अच्छी सरकारी नौकरियों की कमी न थी। अपने एक बुज़ुर्ग संबंधी से अपने भविष्य के बारे में बातचीत करने गए। बुज़ुर्ग बोले, "क्या करने का इरादा है? डिप्टीगीरी के लिए कोशिश ज़रूर करो। यों आबकारी का महकमा भी अच्छा है। खुद भी तो कुछ सोचा होगा तुमने।"

"जी हां।"

"क्या इरादा है?"

कुछ रुककर, हलके, लेकिन दृढ़ स्वर में, मेरे पिता बोले, "जी, मैं अध्यापक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनूंगा।"

"क्या कहा ? मास्टर बनोगे ?" संबंधी का मुख झुंझलाहट और गुस्से में तमतमा गया और वह अंग्रेज़ी में बोले, "यू विल डू योर हैड !" यह अक्षरशः अनुवाद था हिंदी मुहावरे—'तुम अपना सिर करोगे'—का !

"मेरे पिता सकपका गए, किंतु हिंदी मुहावरे के उस अक्षरशः अंग्रेज़ी अनुवाद के भौंडेपन पर उन्हें हँसी आए बिना न रही। जैसे-तैसे विदा मांगकर बाहर आए, पर इरादा उनका और पक्का हो गया।

मुझे नहीं मालूम कि किस तरह उनके मन में इस इरादे के बीज पड़े। शायद गोपालकृष्ण गोखले के व्यक्तित्व से अभिभूत हुए हों; शायद इतिहास के पृष्ठों में ग़ुलाम देशों के स्वतंत्रता-संग्रामों पर प्रेरणादायिनी शिक्षा-पद्धति के प्रभाव से आकृष्ट हुए हों। जो भी हो, बहुत सोच-समझकर उन्होंने इस पथ को पकड़ा। इसीलिए पथभ्रष्ट भी नहीं हुए। इसीलिए उतनी ही राजनीति से उन्होंने संबंध निबाहा, जितनी शिक्षा के आदर्शों को तीव्र गति दे सकती थी; उतनी ही धार्मिकता की ओर झुके, जितनी से नई पीढ़ी की भावनाओं को गहराई दे सकते थे; सामाजिक जीवन में उतना ही पैंठे, जितने से व्यवहार और आचार के मानदंडों को अपने शिष्यों के सामने रख सकते थे।

राजनीति, धर्म, सामाजिक आचार-व्यवहार, सब मानो एक ही केंद्र के चारों ओर घूमते थे—शिक्षा। उस साधना के सम्मुख सभी प्रकार की लालसाएं गौण थीं।

× × ×

उनके ऑफ़िस में एक मोटो टंगा हुआ था, 'लेट अस लिव फ़ॉर चिल्ड्रेन'—हम बच्चों के लिए ही जिएं। आजीवन इस व्रत को निबाहा। २ अक्तूबर, १९१८ को उनकी निजी डायरी में शब्द मिलते हैं, "लोग कहते हैं कि स्कूल के घंटों के बाद भी मैं क्यों स्कूल के लिए काम करता रहता हूं ? काश, मैं उन्हें बता पाता कि अगर स्वास्थ्य और शक्ति ने मेरा साथ दिया होता, तो इससे भी अधिक काम करने में मुझे ख़ुशी होती ! आखिर कर्तव्य-पालन ही में तो जीवन है। मेरा जो व्यवसाय है—अध्यापन—उसे तो मैं पसंद ही नहीं, प्यार करता हूं।"

सारी महत्त्वाकांक्षाएं और सारे अरमान अपनी इसी साधना के पथ में उन्होंने पूरे किए। उनका व्यक्तितत्व अलग-अलग डिब्बों में बंटा नहीं था; अपने छात्रों के पथ-निर्देशन, ज्ञान-प्रकाश एवं हित-साधन में जो तृप्ति और आह्लाद मिलते, वही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके अंतर्मन को सराबोर करने के लिए काफ़ी थे। इस लिहाज़ से द्वंद्वहीन और अविकल था उनका व्यक्तित्व और इसीलिए किशोर छात्र झट उनकी सच्चाई और लगन को चीन्ह लेते और उन्हें अपना लेते थे।

सन १६०८ से १६३२ तक खुर्जा के ई० सी० हाई स्कूल में उप-प्रधानाध्यापक रहकर उन्होंने अध्यापन के क्षेत्र के प्रथम अनुभव प्राप्त किए। उन दिनों गांवों से छात्र खासी बड़ी उम्र में स्कूलों में आया करते थे, और कुछ तो उनके बराबर की ही आयु के थे। लेकिन थोड़े ही दिनों में सारे विद्यार्थी-समाज में उनका समादर होने लगा। स्कूल के प्रबंधकों से मतभेद हो जाने पर जब उन्होंने स्कूल से पद त्याग कर दिया, तो अनेक छात्र भी बाहर फले आए। शहर के बाहर एक पुराने भवन में इन छात्रों ने अपना केंद्र बनाया और उसका नामकरण किया—फ़ोर्ट ऑफ़ इंडीपेंडेंस (स्वातंत्र्य-दुर्ग)। जैसे-तैसे करके मेरे पिताजी ने उन छात्रों को इस विद्रोह-पथ से हटाया, लेकिन अनेक छात्र ई० सी० हाई स्कूल छोड़कर उनके साथ-साथ खुर्जा के निकट एक गांव गभाना में चले आए, जहां थोड़े दिन एक स्कूल चलाने के बाद मेरे पिता देहरादून के डी० ए० वी० हाई स्कूल में उप-प्रधानाध्यापक होकर चले गए। कुछ छात्रों ने तो वहाँ तक उनका साथ दिया। वर्तमान 'विशाल भारत' के संपादक पंडित श्रीराम शर्मा भी शायद उन्हीं दिनों मेरे पिता के छात्र रहे थे।

संभवतः यदि इस मीठे-कड़वे अनुभव की ही बुनियाद पर मेरे पिता का परवर्ती जीवन बना होता, तो एक तरह की छिछली लोकप्रियता का आकर्षण उनके विकास-क्रम को सीमाबद्ध कर देता। शायद वह राजनीतिक मंच की ओर भी खिच जाते, और उनकी कथा दूसरी ही होती। ऐसा नहीं हुआ। सो क्यों?

कारण दो थे। देहरादून की मनोरम और शांत उपत्यका में मेरे पिता के जो चार वर्ष गुज़रे, वे उनके आदर्शवादी मनोजीवन के निर्माण के वर्ष थे। चिंतन, अध्ययन और सत्संग की प्रेरणा से उन्हें अनुभव की उन गहराइयों को नापने का अवसर मिला, जहाँ उदात्त भावनाओं और उच्चादर्शों के उज्ज्वल मोती बिखरे पड़े थे। वही निधि जीवन-भर उनके साथ रही और उसी को अपने छात्रों के बीच बांटने की लालसा ने उन्हें अन्य आकर्षणों से मुक्त रखा। उनके प्रधानाध्यापक 'बाबा' लक्ष्मणप्रसाद आर्यसमाजी थे—सुधारवादी और संयमी। भारतवर्ष की प्रगति में बाधास्वरूप सामाजिक परंपराओं और संकीर्णता की उलझनों को उन्होंने पहचाना 'बाबा' लक्ष्मणप्रसाद के संसर्ग से। किंतु नए कट्टरपन के भी शिकार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुए, क्योंकि देहरादून, ऋषीकेश एवं हरिद्वार में उन्हें निर्मल संतों से आध्यात्मिक विचार-विनिमय के कई अवसर मिले। एक अंग्रेज संन्यासिनी थी ऋषिकेश में। उसके साथ अकसर विचार-विनिमय हुआ। संन्यासिनी ने गंगा में जल-समाधि ली, किंतु उसके त्यागमय जीवन और शुभ्र व्यक्तित्व की याद उनके भावजगत् को अकसर ज्योतिर्मय कर देती। विवेकानन्द के प्रवचनों से सारा भारतवर्ष गूंज रहा था और हिमालय की तलहटी का वह नगर भी अछूता नहीं रहा। स्वामी रामतीर्थ के शिष्यों का भी सत्संग मिला।

× × ×

१९१३ में रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिला। उसी वर्ष अंग्रेज़ी गीतांजलि के प्रथम संस्करण की एक प्रति मेरे पिताजी ने खरीदी। गीतांजलि की मनोरम कल्पना और रहस्यवादी संकेतों ने उन्हें विभोर कर दिया। सीमाहीन क्षितिज के दर्शन हुए और मन की गांठें खुलने लगीं। मतलब यह कि युवावस्था के उस संधिकाल में, जब अनेक अपनी तरक़्क़ी और 'कैरियर' की सफलता के लिए कुंजी खोजते हैं, मेरे पिता को मिले दूसरे ही मूलमंत्र :

···उच्च विचारों और विचारकों का संसर्ग जीवन का पाथेय होना चाहिए, पथ चाहे कोई भी हो;

···मन की खिड़कियां खुलीं ही अच्छी;

···जीवन में आदर्श उतने ही सार्थक हैं, उतने ही 'वास्तविक', जितनी व्यावहारिकता और व्यवसाय-बुद्धि।

क्या इन मूल मंत्रों का प्रचार उन्होंने ओजस्वी भाषणों द्वारा किया? अथवा क्या उन्होंने प्रभावोत्पादक पुस्तकें लिखकर अपना संदेश चतुर्दिक फैलाया? नहीं! वह न उच्चकोटि के वक्ता थे और न ख्यातिनामा ग्रंथकार। वाणी और लेखनी दोनों के धनी होते हुए भी उन्होंने दोनों ही का प्रसाद अपने शिष्यों ही को दिया, निजी स्वार्थसिद्धि में उसे नहीं लगाया। कक्षा में इतिहास पढ़ाते-पढ़ाते सन् '५७ के स्वतंत्रता-पुजारियों तथा तिलक, अरविंद घोष, फ़ीरोजशाह मेहता की कथाएँ सुना जाते, यद्यपि तत्कालीन इतिहास-पाठ्यक्रम में इनका कोई ज़िक्र न था। अंग्रेज़ी के पाठ के दौरान एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ़ एशिया' की पंक्तियों के संदेश की ओर ध्यान खींचते। कभी-कभी भोजन के समय उनके पास कुछ छात्र और अध्यापक बुला लिए जाते। फिर चर्चा चलती देशभक्तों की, समाज-सुधार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, नई पुस्तकों की। सवेरे घूमने निकलते, कोई-न-कोई साथ हो ही जाता; वृक्षो और पशु-पक्षियों का ज़िक्र आता; चर्च के पास होकर निकलते, तो ईसा मसीह की असीम करुणा तथा ईसाई मज़हब की भक्ति-भावना का रहस्य समझाते; गौशाला के निकट गुज़रते, तो गौरक्षा के विषय में गांधीजी के विचारों का उल्लेख करते। रात के समय भोजनोपरांत हम लोग अकसर नीले आकाश का दिग्दर्शन करते-करते उनके मुख से सुनते ग्रहों, उपग्रहों और तारों की कथा; सर जेम्स जींस की पुस्तक 'दि मिस्टीरियस यूनिवर्स' से अनंत आश्चर्यों का वर्णन सुनाया जाता आइंस्टाइन और रामानुज के गणित की चर्चा होती। सन् '२४ में नालंदा गये, तो वहाँ से पुराने पत्थर और मिट्टी के टुकड़े ले आए और हफ़्तों उन्हीं का ज़िक्र चलता रहा। अपने नगर में बाहर से यदि कोई यात्री आता तो उसके अनुभव सुनते, उसे सहायता देते। ज़िले में पहली बार हवाई जहाज़ का प्रदर्शन हुआ, तो सबसे पहले उसमें बैठकर उड़े, रेडियो का आविष्कार हुआ, तो अपने यहां मंगाया। घर में उत्सव, त्योहारों पर पूजा होती, तो रीति-रिवाजों के पीछे जो समाज-तत्व हैं, उन्हें समझाते। बालिकाओं की शिक्षा का आंदोलन चला, तो न सिर्फ़ उसके प्रबल समर्थक रहे, बल्कि सबसे पहले अपनी कन्याओं को ही लड़कों के स्कूल मे दाखिल किया। कोई भी पुस्तक-विक्रेता उनके यहां से निराश नहीं लौटा। अपने तकिए के पास डायरी रखते, जिसमें अकसर अपने विचार लिखते रहते और पुस्तकों, लेखों इत्यादि में से उद्धरण भी रखते। इस तरह के उद्धरणों के संग्रह रखने के लिए उन्होंने अपने कई छात्रों को भी प्रेरित किया।

छात्र छुट्टियों में घर जाते या पढ़ाई पूरी हो जाने पर स्कूल छोड़ जाते, तब भी पत्र-व्यवहार द्वारा संपर्क जारी रहता। जिस छात्र ने पत्र लिखा, उसने न केवल उत्तर पाया, बल्कि हर उत्तर में एक-न-एक रत्न—भावानुरंजित अथवा विचार-रश्मियों से आलोकित। ये पत्र ही वे 'एकमुश्त गुबार' थे, जो उनके छात्रों की 'आंखों को नूर' देते, उनके 'दिल को सुरूर'! ग्रंथ लिखकर उन्हें यश अथवा अर्थ-लाभ की तो कामना थी नहीं; इसलिए अनुभव, अध्ययन, मनन से आदर्शप्रियता का जो अमृत पाया, उसे अपने शिष्यों को ही अर्पित किया बिना दुराव के। न जाने कितनों ने अपनी व्यक्तिगत दुष्कर परिस्थितियों में इस अमृत से जीवन-लाभ किया। देहरादून-प्रवास में जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई, जीवन के अंतिम वर्ष तक चलती रही। १९४१ में अपने एक पुराने छात्र को लिखा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"What matters to me most is the intellectual and spiritual friendship that I have always tried to contact and foster with those, be they my junior in years or intellect, whom I thought I should take into my intellectual confidence."[१]

एक दूसरे पुराने छात्र को मृत्यु से एक महीने पहले ही लिखा :

"*The Light of Asia* Lord Buddha's renunciation is my companion. It is good to be in the company of this book for in the midst of one's wordly comforts, one should be in touch with the spirit of renunciation preached and practised by the mighty souls of the past. I am the better for it."[२]

वाणी, विचार और व्यवहार द्वारा उच्चादर्शों का अपने छात्रों में संचार करने में उन्होंने अपना समूचा व्यक्तित्व, प्राचीन गुरुओं की भांति शिष्यों को अर्पित कर दिया। किंतु परंपरा की प्रतिध्वनि के साथ-साथ मेरे पिता के जीवन में, लय के साथ ताल की भांति, एक आधुनिक तत्त्व भी था—प्रयोगशीलता। इसके बीज पड़े १९१५-१६ में, जब वह अध्यापन-शैली में ट्रेनिंग पाने के लिए इलाहाबाद रहे। इलाहाबाद ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल थे मैकेंज़ी। मैकेंज़ी ने मेरे पिता की नवीन शिक्षा-पद्धतियों में दिलचस्पी देखकर उन्हें नूतन विचारों और प्रयोगों की ओर अग्रसर किया। मैकेंज़ी की दीक्षा से उन्हें आशा बंधी कि अध्यापक का जीवन दैनिक पठन-पाठन का तांता-मात्र नहीं है। उसमें भी गुंजाइश है कल्पनापूर्ण योजनाओं की, नए तथ्यों के निरूपण की, साहसपूर्ण प्रयोगों की। शिक्षक चिर-गतिशील बालक-बालिकाओं के विकास का साधन है। इसलिए रूढिग्रस्त अध्यापक अपने ध्येय के तईं ईमानदार नहीं रह सकता। बच्चों के प्रति ज़बरदस्ती बरतकर भले ही परीक्षाएं पास करा ले, किंतु जीवन-निर्माण नहीं कर

१. जो मानसिक और आध्यात्मिक नाता मैंने उन लोगों के साथ जोड़ा, जिन्हें—चाहे वे आयु अथवा मानसिक स्तर में मुझसे छोटे ही रहे हों—मैंने अपने आंतरिक विचार-विनिमय के योग्य समझा, उसे ही मैं सबसे अधिक महत्त्व देता हूं।

२. 'लाइट ऑफ़ एशिया'—भगवान बुद्ध के चरम त्याग की कथा ही आजकल मेरी संगिनी है। यह उचित ही है कि मुझे इस ग्रंथ का सत्संग मिल रहा है, क्योंकि सांसारिक सुखों के बीच रहते हुए त्याग की उस प्रेरणा से संपर्क भी रहना चाहिए, जिसका उपदेश और आचरण पुरातन समय की महान् आत्माओं ने हमारे सामने रखा है। इससे मेरा कल्याण ही हुआ है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने तीन सिद्धांत अपने सामने रखे और कई शिक्षा-कान्फ्रेंसों में उन्हें घोषित किया। प्रथम तो यह कि अध्यापक का उद्देश्य केवल वार्षिक परीक्षाओं के लिए छात्रों को तैयार करना नहीं है, बल्कि उनके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाना है। दूसरे, शिक्षण-प्रणाली इत्यादि में नए विचारों को प्रयोग में लाने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि प्रगतिशील जगत् में शिक्षा-पद्धति जड़ नहीं रह सकती। तीसरे, शिक्षक अपने को वेतन के बदले रटंत कराने वाला भाड़े का मास्टर न माने, बल्कि नई पीढ़ी को विकसित करनेवाला राष्ट्र-निर्माता समझे और तदनुसार ही आत्मविश्वासी बने।

१६१६ क्या, आजकल भी इन सिद्धांतों को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र बहुत कम शिक्षकों को मिल पाता है। अनेक उत्साही अध्यापकों के अरमान, दफ़्तर की-सी कार्य-प्रणाली की मरुस्थली में सूख जाते हैं। मेरे पिता धन और यश के मामले में भाग्यवान न होते हुए भी अपने मनोरथों के अनुकूल परिस्थितियां पाने में अकसर भाग्यशाली रहे। जब ट्रेनिंग कॉलेज ही में थे, तो खुर्जा नगर से उनके पास निमंत्रण आया। पुराने ई० सी० हाई स्कूल के मुक़ाबले एक नया हाई स्कूल खोल रहे थे नगर के दूसरे सेठ, रायबहादुर जानकीप्रसाद। उसका प्रधानाध्यापक मेरे पिता को ही बनाना चाहते थे, चूंकि उनकी प्रतिभा से रायबहादुर परिचित हो चुके थे। इंस्पेक्टर कॉक्स ने विशेष अनुरोध किया मेरे पिता से इलाहाबाद जाकर। मेरे पिता ने शर्त रखी, "मुझे स्कूल के प्रशासन और शिक्षा-क्षेत्र में पूरी आज़ादी होनी चाहिए।" ज़िंदगी-भर इस वायदे को निबाहा रायबहादुर जानकीप्रसाद ने और उनके बाद उनके सुपुत्र रायसाहब श्यामलाल ने। और इस तरह १९१६ से लेकर १९४३ तक २७ वर्ष की लंबी अवधि में मेरे पिता जे० ए० एस० हाई स्कूल, खुर्जा, के प्रधानाध्यापक ही नहीं, सर्वेसर्वा रहे।

नए विचारों और पद्धतियों के प्रयोग के लिए आज़ादी तो मिल गई, लेकिन छोटा-सा खुर्जा शहर; छात्र दूकानदारों के कुटुंबों से आते या आसपास के गांवों से; पब्लिक स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों की-सी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तो उनकी थी नहीं और सहायक अध्यापकगण भी साधारण योग्यता-प्राप्त थे, वेतन उनके बहुत कम थे और ज्ञान-राशि सीमित। इस मिट्टी में जान फूंकने का बीड़ा उठाया मेरे पिता ने उस ज़माने में, जब प्रगतिशील शिक्षा-प्रणालियों से बड़े-बड़े नगरों के अध्यापकगण भी अनभिज्ञ थे। जो प्रयोग उन्होंने किए, उनमें से कुछ तो आज भी,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली-जैसी महानगरी के समृद्ध स्कूलों के लिए भी अनुकरणीय उदाहरण माने जाएंगे।

१९२४ में उन्होंने डाल्टन प्लान नामक पद्धति चलाई। अध्यापक कक्षा में केवल मुंहज़बानी पाठ पढ़ाने के बजाय हरेक छात्र को सप्ताह-भर के लिए एसाइनमेंट देते, यानी पाठ को अनेक कार्य-इकाइयों में बांटा जाता। हरेक छात्र के नाम पर एक कार्ड था, जिसमें उसकी दैनिक प्रगति के लिए खाने बने थे। ज्यों-ज्यों छात्र अपने कार्य की इकाइयों को पूरा करता, त्यों-त्यों अध्यापक कार्ड पर यथोचित खानों में निशान लगाता जाता। काम कक्षा में ही बैठकर होता और अध्यापक हरेक छात्र की व्यक्तिगत कठिनाइयों को दूर करता। कक्षा में आप-ही-आप अनुशासन आ जाता था और दत्तचित्त होकर छात्र काम में लगे रहते, जैसे मधुमक्खियों के छत्ते में निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार काम चलता है।

हर स्कूल में कुछ लड़के किसी विषय में तेज होते हैं, कुछ किसी में, किंतु एक ही कक्षा में उन्हें रख दिया जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए उन्होंने सन् १९२८-२९ में 'स्टेज सिस्टम' नाम से वर्गीकरण की नई पद्धति चलाई। ५वीं से ८वीं कक्षा तक के चार वर्षों के छात्रों को हर विषय के लिए अलग-अलग ९ वर्गों में विभक्त कर दिया और हरेक विषय की अलग पढ़ाई का प्रबंध हुआ। एक विषय में तेज़ छात्र ९ वर्गों को दो ही साल में पूरा कर सकता था और फिर उन विषयों की ओर अधिक ध्यान दे सकता, जिनमें वह कमज़ोर था।

भारतवर्ष में परीक्षा-पद्धति एक तरह का जुआ हो गई है, जिसमें छात्र की योग्यता की उतनी जांच नहीं होती, जितनी उसके भाग्य की। १९२९ में मेरे पिता ने साप्ताहिक परीक्षाओं की प्रणाली चलाई, जिसमें सप्ताह-भर के पाठ के सभी महत्त्वपूर्ण भागों पर जांच की जाती। छोटे सवालों वाले प्रश्न-पत्रों को चलाया, जिनमें केवल शब्द-जाल से भरमाने वाले उत्तरों की बजाय उपयुक्त और तथ्यपूर्ण उत्तर देने पड़ते।

१९३१ में उन्होंने स्कूल की कुछ शिक्षाओं में आत्मशिक्षण के प्रयोग किए। छात्रों के उन वर्गों को 'स्वराज्य वर्गों' की संज्ञा दी जा सकती है। क्लास में एक लड़का अध्यक्ष चुना जाता, एक मंत्री। अध्यापक प्रारंभिक चर्चा के बाद कक्षा के पीछे सीट पर बैठ जाता। दो छात्र सामने आकर पाठ्य विषय पर विवाद करते। अन्य छात्र उनसे प्रश्न पूछते। अध्यक्ष कार्रवाई चलाता और मंत्री कार्रवाई को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखता जाता। अंत में अध्यापक उल्लेखनीय पहलुओं पर प्रकाश डालता। कक्षा को जो काम लिखने, चार्ट-नक़्शे बनाने इत्यादि का दिया जाता, उसे पूरा करने के लिए छोटे-छोटे दल बना दिए जाते; दलनायक एक तेज़ विद्यार्थी होता था, किंतु उसकी यह ज़िम्मेदारी होती थी कि सारे दल की कार्यविधि का निर्देशन करे। १९३० में तो उन्होंने स्कूल के शासन-संबंधी कुछ मामलों को छात्रों की एक एसेंबली के हाथ सौंप दिया। एसेंबली की छोटी-छोटी उप-समितियां विभिन्न कामों की देखभाल करती थीं—यथा होस्टल में सुविधाएं, लाइब्रेरी की व्यवस्था, छुट्टियों की संख्या और क्रम इत्यादि। पठन-पाठन और व्यवस्था दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने छात्रों को गणतंत्र की व्यावहारिक ट्रेनिंग देने का प्रयास किया।

१९२६ में शांतिनिकेतन जाने का अवसर उन्हें मिला। कवींद्र से मिले, और खुर्जा लौटने पर स्कूल में एक नई पद्धति चलाई। सप्ताह में एक दिन सारा स्कूल नगर के बाहर एक जंगल में जाता और वहां वृक्षों के नीचे शांतिनिकेतन की तरह, प्रकृति की उन्मुक्त गोद में, पढ़ाई होती। पठन-पाठन के अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्य-कलाप और खेल-कूद को वह स्कूल के कार्यक्रम में विशेष स्थान देते थे। किंतु दस-बारह गिने-चुने छात्र टूर्नामेंटों और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में शील्ड-कप जीत लें और स्कूल को वाहवाही मिल जाए—ऐसी सांस्कृतिक प्रगति के वह क़ायल न थे। और न उन्हें साल में एक बार वार्षिक उत्सव में विशेष अतिथियों के सामने चुने हुए छात्रों का प्रदर्शन करने से संतोष मिल सकता था। उनका कहना था कि सांस्कृतिक कार्य-कलाप और खेल-कूद सच्चे अर्थ में शिक्षा के अंग तभी होंगे, जब स्कूल के अधिकतर छात्र इनमें शामिल हों और साल-भर बराबर पठन-पाठन की तरह इन बातों का भी क्रम चलता रहे। इसलिए स्कूल को पाँच 'हाउसों' (भवनों) में विभक्त किया गया। हाउसों का नामकरण पहले तो प्राचीन विद्यापीठों के आधार पर किया गया, यथा—नालंदा, तक्षशिला, उज्जैन, काशी, प्रयाग, विक्रमशिला और बाद में राष्ट्रीय नेताओं के नाम पर—टैगोर, मालवीय, गांधी, गोखले, इत्यादि। हाउसों में प्रतियोगिताएं होतीं और हरेक हाउस खेल-कूद, वाद-विवाद, नाटक, इत्यादि की व्यवस्था करता। इस तरह स्कूल के सभी छात्रों को अपनी प्रतिभा दिखाने और मिल-जुलकर काम करने का अवसर मिलता। संगीत की शिक्षा का प्रबंध १९२८ से ही कर दिया गया। हाउसों की अपनी-अपन हस्तलिखित पत्रिकाएं थीं। ग्रामोफ़ोन रेकर्डों की सहायता से सामूहिक ड्रिल सिखाने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भी व्यवस्था थी। स्काउटिंग तो थी ही। छात्रों का अपना बांसुरी बैंड था। बाहरी ज्ञान—विशेषत: समाचार-पत्रों की वार्ताओं—से परिचित रहने के लिए बोर्ड पर कटिंग टांगी जाती थीं, चित्र दिखाए जाते थे। अगणित प्रयोग उन्होंने किए, किंतु हरेक की जड़ में दो मूलभूत सिद्धांत थे—शिक्षा का वरदान तभी सार्थक है, जब पिछड़े-से-पिछड़े छात्र का कल्याण हो; और दूसरे, विद्यार्जन ही शिक्षा नहीं है, उसमें छात्र के समूचे व्यक्तित्व का विकास भी शामिल है।

× × ×

तीस-चालीस वर्ष पूर्व छोटा-सा कसबा—खुर्जा! न तो वहां इलाहाबाद-लखनऊ का-सा सांस्कृतिक वातावरण था और न नई शिक्षा-पद्धतियों एवं प्रयोगों के कद्रदां विद्वान। यों मेरे पिता के प्रयोगों की चर्चा कुछ कानफ्रेंसों में हुई और शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। किंतु बात यही थी कि जंगल में मोर नाचा, किसने देखा! पर 'दिखावे' की उत्कट लालसा को उन्होंने अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। छात्रों की उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया में ही उन्हें प्रेरणा मिलती। एक और भी बात थी। यद्यपि खुर्जा में बहुत-से लोग उनके प्रयोगों और सांस्कृतिक स्तर को समझ नहीं पाते थे, तथापि सभी उनके असाधारण व्यक्तित्व को नगर के लिए गौरव मानते थे। उनके चारों ओर बैठे हुए अध्यापक, डॉक्टर, वकील, इत्यादि उनकी देश-विदेश, दर्शन-साहित्य, संस्कृति-विज्ञान की चर्चाओं को पूरी तरह न समझ सकने पर भी उनमें रस लेते; लगता जैसे किसी पुरखे के घुटनों के चारों ओर बैठकर कोई शिशु-समुदाय लोक-परलोक की कथाएं सुनता हो; पुरखे का मस्तक मानो बादलों से भी ऊपर किन्हीं अज्ञात और विचित्र दृश्यों को अवलोकता हो, जिनकी अस्पष्ट झाकियां ही शिशु-समुदाय को चकित करती थीं।

× × ×

पुरखे! मेरे पिता की तसवीर भी एकांगी ही होगी, बल्कि एक मानी में ग़लत भी। एक अध्यापक और अध्येता के रूप में हमें वह वयोवृद्ध जान पड़ते थे, किंतु अपने सामाजिक विचारों और व्यवहार में उनकी तरुण-सुलभ प्रखरता और विद्रोह भी अविस्मरणीय है। वह कई मामलों में सुधारवादी ही नहीं थे, क्रांतिकारी भी थे। प्राय: देखा जाता है कि आयु के साथ भावनाएं कुंठित होने लगती हैं, नयापन खिड़वाड़ लगता है, परिवर्तन अखरने लगता है। जो है, ठीक है—अच्छा हो या बुरा। दुनिया बदली कब है?—सैकड़ों सिर खपाकर मर गए। तो फिर छेड़छाड़ से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या लाभ ? लेकिन मेरे पिता ज्यों-ज्यों साठ के निकट पहुँचते गए, त्यों-त्यों नूतन का आकर्षण जादू की तरह उन पर चढ़ने लगा। आदर्शों के निमंत्रण ने उनके व्यक्तित्व में तारुण्य की चमक ला दी। अन्याय के विरुद्ध विद्रोह, सड़ी-गली सामाजिक रूढ़ियों को तुरंत नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए उतावलापन और नए तथा अज्ञात किंतु आदर्शवादी विचारों की उच्छृंखल तरंगों पर निर्भीक हो अपनी नौका डालने की क्षमता—ये सब क्रांतिकारी के लक्षण नहीं तो क्या हैं ?

एक घटना याद आती है। जमाना था शायद सन् '३२ के आंदोलन से ज़रा पहले। सारा देश एक अजब दीवानेपन में झूम रहा था। मुल्क पर निछावर होनेवालों की आंखें क्षितिज पर सिर्फ़ बलिदान की लाली देख पाती थीं, इनाम और आराम के महल नहीं। कौन जानता था, कब देश को आज़ादी मिलेगी, कब संकट टलेंगे, जंजीरें टूक-टूक होंगी ? अभी तो बस जूझना है। एक पथ, एक प्रदर्शक, एक आवाज़ और हज़ारों चरण कांटों को चूमने के लिए ललक उठते।

उस समय राष्ट्रीय संग्राम और सामाजिक क्रांति एक ही प्रवृत्ति के दो पहलू थे। हिंदू-समाज में सुधार की लहर राष्ट्रीय उत्थान की भावना से ही अनुप्राणित थी, हालांकि १९२४-२५ की सांप्रदायिकता ने दिल खट्टे कर दिए थे और वह अलबेलापन, जिसमें स्वामी श्रद्धानंद ने इमाम की जगह से दिल्ली की जामा मस्जिद में मुसलमानों की जमात में हिंदू-मुस्लिम एकता का नारा उठाया—देश का वह बांकापन देखते-ही-देखते ग़ायब हो चुका था। फिर भी आपसी झगड़े सिर्फ़ ऊपरी वहक थे, भीतरी विष नहीं। हिंदुओं ने सामाजिक अस्त-व्यस्तता को संभाला, मुसलमानों ने अपनी तहज़ीब के मुलम्मे को चमकाया। लेकिन इन तैयारियों में एक-दूसरे पर टूटनेवालों की पैंतरेबाज़ी न थी, ये तो जन-शक्ति के चिह्न थे, अभिव्यक्ति चाहे जो हो, प्रेरणा तो एक ही थी।

× × ×

शायद सन् '३० की बात है। गांधीजी ने हरिजन-उद्धार का जो मंत्र दिया, तो हिंदू-समाज ने एक नई स्फूर्ति का अनुभव किया। मेरे पिता थे कट्टर गांधीवादी, एकलव्य की तरह उन्होंने शिष्यता को निबाहा।

जिस विद्यालय में मेरे पिता प्रधानाध्यापक थे, उसी के हाते में अस्पृश्यता-निवारण संबंधी एक सम्मेलन हुआ। बड़ा उत्साह था। आर्य समाज के प्रसिद्ध वक्ताओं और कांग्रेस के अथक कार्यकर्ताओं ने अपने जोशीले भाषणों से जनता को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमुग्ध कर दिया। मेरे स्मृति-पट पर उस सम्मेलन का जो चित्र अंकित है, उसमें अपार जन-समूह और महान नेताओं की अलभ्य झांकियां घुल-मिल गई हैं। एक प्रसिद्ध नेता की गंगा-जमुनी दाढ़ी, दूसरे का रिमवाला चश्मा, तीसरे की उत्तरोत्तर गगनोन्मुखी वाणी! किशोर आयु में आंखें जो कुछ देखती हैं, कल्पना की तूलिका उस पर अनजाने ही अनेक गहरे रंग लगा देती है और कहीं-कहीं बिलकुल साफ़ छोड़ देती है। लेकिन इतना निश्चय है कि उस सम्मेलन ने मेरे बाल-हृदय को अनेक अस्पष्ट आदर्शों से ओत-प्रोत कर दिया था। जन्मजात भावुकता को सामूहिक उल्लास का सहारा मिला और अहंकारविहीन सात्विकता से दिल भर गया।

सम्मेलन के तीसरे दिन निश्चय हुआ कि रात्रि में सहभोज होगा। अछूत और उच्च जाति के हिंदू एक ही पंगत में बैठकर खाना खाएंगे। यह उस समय की बात है, जब होटल, रेस्तराँ, सिनेमा इत्यादि ने रूढ़िगत संस्कारों के टीलों पर अपना 'बुलडोज़र' चलाकर समाज को समतल नहीं बना दिया था। भाषण सुनने तो बहुतेरे आए, चंदे भी कइयों ने दिए, नारे भी अनेक ने लगाए, लेकिन हमारा नगर सेठों और दूकानदारों का क्षेत्र था। मौक़ा आने पर दान-कार्यों और संस्थाओं पर लाखों लुटा दें, पीछे रहकर ज़रूरी सहायता भी दे दें, लेकिन आगे बढ़ने को कहो, तो अंतर्धान हो जाएं! नतीजा यह हुआ कि शहर का कोई बड़ा आदमी सहभोज में आने के लिए तैयार नहीं हुआ। यों नौजवानों और वालंटियरों की कमी न थी। नेता लोग, जो बाहर से आये थे, भाषण दे-देकर चले गए। अगर कोई बुजुर्ग सहभोज में शामिल न हुआ, तो लोग उसे खिलवाड़ समझेंगे।

मेरे पिता भाषण वग़ैरह देने से झिझकते थे, इसलिए सम्मेलन के मंच से अलग ही रहे। यों लौटने पर रोज शाम को दिन-भर की कार्रवाई और समस्याओं पर विवेचना तो ख़ूब होती ही थी।

सहभोज का वक्त करीब था, तब उनके कानों में भनक पड़ी कि उस मौके पर शहर के अन्य संभ्रांत सज्जन मुकर रहे हैं। नौजवानों की हिम्मत टूट रही है। फ़ौरन छड़ी उठाई और सभा-स्थल पर पहुंच गए। बोले, "कुछ परवाह नहीं। आज मैं तुम लोगों का नेतृत्व करूंगा।"

बत्तियां जलते-जलते पंडाल भरने लगा। बराबरवाले शामियाने में एकरंगे बिछाकर भोजनार्थियों के बैठने का प्रबंध किया गया। कुछ दूर पर कड़ाहियों में पूरी-कचौरी तैयार हो रही थीं। कार्यकर्ताओं में अभूतपूर्व जोश था। जितने खाने-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले थे, उनसे अधिक तमाशबीन। कुछ के चेहरों पर व्यंग्य था, कुछ के श्रद्धा, कुछ केवल उत्सुक थे। हरिजन भी आये, साफ़-सुथरे कपड़े पहने, चकित-से, डरे-से, लाज के भार से दबे-से। चुनौती या विद्रोह की गंध न थी। लेकिन शायद अंतस्तल में अविश्वास था। पर उस समय मैं इतने गहरे पैठ नहीं पाया। असल में उनमें से अधिक संख्या आर्यसमाज के संपर्क में आये हुए हरिजनों की ही थी, जो पहले से ही प्रदर्शन के आदी थे और जिनके ऊपर 'महाशय' पदवी की मुहर लग चुकी थी।

पिताजी आगे बढ़े और बीचवाले एकरंगे पर जाकर बैठ गए। हम लोगों ने भी अपने-अपने लिए स्थान चुना। चारों तरफ़ दर्शकों की भीड़ लगने लगी। सहसा किसी ने कहा कि हरिजनों में कोई मेहतर तो है ही नहीं! बात ठीक निकली। सभी जात के हरिजन थे, संख्या कम थी, और मेहतर कोई न था! समय गुज़र रहा था।

पिताजी ने कहा, "जाहरिया को बुलाओ।"

हम लोग कुछ चौंके। जोश के परिधान के नीचे जो रूढ़िगत संस्कारों का पुतला था, वह कुछ भड़का। जाहरिया! स्कूल का भंगी!

जाहरिया भंगी था। वह और कुछ न था, केवल भंगी था। याद नहीं पड़ता कभी उसने अपने को औरों की तरह मनुष्य समझा हो। याद नहीं पड़ता कभी उसके चेहरे पर व्यथा की रेखा या लालसा का वेग दीखा हो। हमेशा हँसमुख, हमेशा तन्मय। कहूं कि वीतराग था, तो व्यंग्य जान पड़ेगा या अतिशयोक्ति। किंतु इतना निश्चय है कि राग-द्वेष उसे छू न गया था। वह संत न था। शायद मूढ़ रहा हो। कौन जाने, हम जिसे मूढ़ समझते रहे, वह शायद मन में हम ही पर हँसता रहा हो!

पिताजी ने जब कहा कि जाहरिया को बुलाओ, तो हम लोग चौंके अवश्य। मर्दुमशुमारी में जिसे हम शायद आदमियों में गिनते भी नहीं, उसे पिताजी सह-भोज में शामिल होने को बुला रहे हैं। समझ न पड़ा कि हँसें या नाराज़ हों। लेकिन पिताजी के चेहरे पर देखी सच्चाई-भरी दृढ़ता और हम लोगों की कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ी।

जाहरिया आया। वही भंगिमा, वही सहज निष्कपट हँसी, वही मिची-मिची-सी आँखें, वही भावशून्य चेहरा। पता नहीं, वह उस मंडप की हलचल को समझ भी पा रहा था या नहीं। बेखबर हँस रहा था। अन्य हरिजन कुछ सकुचे, कुछ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरमाए। लेकिन जाहरिया वही था, जो और कहीं होता। अजब मज़ाक था। जाहरिया और उस मजमे का हीरो! सारी आँखें उस पर थीं, कोई मखौल कर रहा था, कोई घुड़की तक दे रहा था। लेकिन जाहरिया को झिझक थी, न कोई बेताबी।

थोड़ी देर बाद हम लोगों ने देखा—जाहरिया पिताजी के ठीक बराबर में बैठा था। पत्तलें परस चुकी थीं। स्कूल के प्रधानाध्यापक और स्कूल का भंगी—बराबर एक आसन पर, एक भूमि पर बैठे अन्नपूर्णा के प्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने देखा—पिताजी के चेहरे पर अमित शांति, अनंत करुणा, अनिर्वचनीय संतोष खेल रहे थे और मुझे लगा—मानो युग-युग के बंधन टूट गए हों, मानो मानवता की नींव उन्होंने पा ली हो—वह नींव, जो समतल है, स्वच्छ है, शीतल है। वेद-मंत्रोच्चारण प्रारंभ हुआ—ओं विश्वानि देवसवितुर···अद्भुत शांति छा गई—बाहर भी, भीतर भी। उस आलोक की छाया में हम लोगों ने सहभोज प्रारंभ किया।

× × ×

दूसरे दिन शहर में सनसनी थी। छोटा-सा शहर, जहाँ नन्ही घटनाएं इतिहास बन जाती थीं और जहां गिरा सनयन थीं और वाणी को कल्पना की आंखें तो मिली ही थीं। स्कूल के प्रधानाध्यापक ने भंगी के साथ बैठकर खाना खाया। गज़ब हो गया!

"अजी एक ही पत्तल में खाया, एक ही पत्तल में!"

"और कोई नहीं मिला साथ में बिठाने को!"

"आखिर अछूत भी तो तरह-तरह के होते हैं!"

"वह भी स्कूल का भंगी! अपना ही भंगी!"

"हेड मास्टरसाहब की मत मारी गई है! धरम-करम अपना भी नाश किया, दूसरों का भी।"

"भला ऐसी बातों का लड़कों पर क्या असर होगा!"

जितने मुंह, उतनी बातें! हमारे पास भी सूचना देनेवालों की कमी न थी। कुछ नमक-मिर्च लगाकर ही लोग कहते। एक भूचाल-सा आ गया शहर में। हर जगह वही चर्चा।

स्कूल के मालिक और मैनेजर तक यह बात पहुंची। वे नौजवान थे, पिताजी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शिष्य रह चुके थे और निजी रहन-सहन में नया तरीक़ा पसंद करते थे। लेकिन मामला उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोण के बाहर हो गया। स्कूल का संचालन एक ट्रस्ट-कमेटी के हाथ में था और उसमें शहर के दो-चार धनी-मानी सज्जन थे—मैनेजरसाहब की ही बिरादरी के। बिरादरी से उनका निजी जीवन की स्वच्छंदता के विषय में समझौता-सा था, जिसके फलस्वरूप उनके मुसलमान बैरा, उनके अंग्रेज़ी खाने, उनकी विदेशी धजा के प्रति बिरादरी उदासीन थी और वह भी बिरादरी के मामलों में दख़ल नहीं देते थे। लेकिन यह मामला टेढ़ा आ पड़ा था। उन्हीं के स्कूल में प्रधानाध्यापक खुलेआम ऐसा अनर्थ कर बैठें और बिरादरी चुपचाप बैठी रहे! मैनेजरसाहब ने मामले को दबा देना चाहा। पिताजी की वह बहुत इज़्ज़त करते थे, और स्कूल के अंदरूनी मामलों में सारी बाग़डोर उन्हीं के हाथ में दे रखी थी। लेकिन ट्रस्ट-कमेटी के सदस्यों का बहुत ज़ोर पड़ा, तो उन्हें कमेटी की एक विशेष मीटिंग बुलानी पड़ी। विषय था—प्रधानाध्यापक के स्कूल के भंगी के साथ सहभोज में भाग लेने पर विचार।

उन्हीं दिनों पिताजी बीमार पड़ गए। सख़्त बीमार। मेरे स्मृति-पट पर उस बीमारी का चित्र भी एक भयावह छाया की भाँति फैला हुआ है, घनीभूत और स्पष्ट। बीमारी के दिनों में उनकी डाक मैं खोलता था; समाचार-पत्रों में से अवतरण सुनाना, गांधीजी के लेखों और रवींद्रनाथ के गीतों को पढ़कर सुनाना, चिट्ठियाँ लिखना—कुछ ऐसे ही विविध कार्य कभी-कभी मुझे मिल जाते थे। एक दिन डाक में एक चिट्ठी पढ़ी। शाहजहांपुर में एक पुराना स्कूल था, जिसके मैनेजर हम लोगों के एक दूर के रिश्तेदार ही थे। उन्हीं की चिट्ठी थी। उन्होंने सुना कि पिताजी का ट्रस्ट-कमेटी से मतभेद हो गया है और शायद स्कूल उन्हें छोड़ना पड़े। ऐसी हालत में क्यों न शाहजहांपुर के स्कूल में प्रधानाध्यापक के पद पर आ जाएं? स्कूल अच्छा है, वेतन ज़्यादा मिलेगा। मकान मुफ़्त और अन्य सहूलियतें भी। और फिर मैनेजर अपने ही आदमी, पूरी आजादी दे देंगे। ऐसे अनुभवी और योग्य प्रधानाध्यापक की उन्हें ज़रूरत भी है।

चिट्ठी पढ़कर मन में कुछ गुदगुदी-सी हुई। चलो, इस झंझट से तो छूटेंगे! और सबसे ज़्यादा आकर्षण था नए स्थान का, नए वातावरण का। ठीक मौक़े पर यह निमंत्रण आया; मुंहतोड़ जवाब और मुंहमांगी मुराद!

पिताजी ने मेरे चेहरे पर उत्सुकता और प्रसन्नता के चिह्न ताड़ लिए, लेकिन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बोले नहीं। हाथ से लिखा एक पोस्टकार्ड दिया और कहा, "इसे डाकखाने में डाल आओ। लेकिन देखो, पढ़ना मत।"

पढ़ना मत ?···तब तो ज़रूर ही कोई दिलचस्प बात होगी। मानी हुई बात है कि प्रायः वर्जन ही निमंत्रण हो जाता है; निमंत्रण ही नहीं, सम्मोहन। सो पोस्ट-कार्ड पढ़ ही तो डाला। शाहजहांपुर की चिट्ठी का जवाब था। पिताजी ने लिखा था, "आपके सौहार्दपूर्ण आमंत्रण को अस्वीकार करते हुए मुझे बुरा लग रहा है, क्योंकि आपके आग्रह के पीछे सहानुभूति ही नहीं, स्नेह भी है। लेकिन आपको शायद न मालूम हो कि यहां जिस परिस्थिति में मैं अपने को पाता हूं, वह मेरे लिए सिद्धांत की चुनौती है। ऐसी चुनौती से मैं मुंह मोड़नेवाला नहीं। प्रदर्शन के लिए मैंने भंगी के साथ बैठकर खाना नहीं खाया है। तो फिर मुंह क्यों मोड़ूं ? संघर्ष से विमुख होना सिद्धांत के प्रति दग़ाबाज़ी होगी।···मुझे तो जूझना ही है। और यदि स्कूल से हटना ही पड़ा, तो अन्यत्र नौकरी नहीं करूंगा। यह स्कूल मेरे बच्चे के समान है। शुरू से इसे पाला-पोसा। इसे छोड़ना पड़ा, तो मेरा निश्चय है कि साबरमती आश्रम में जाकर महात्माजी के चरणों पर ही पड़ूंगा। और कहीं नौकरी करने का विचार नहीं है।"

मुझे याद नहीं कि पत्र पढ़कर मैं निराश हुआ या नहीं। लेकिन जीवन में जब कभी कमज़ोरी के क्षण आते हैं और असलियत के जाल में आदर्श स्वप्नवत जान पड़ते हैं, तब यह उत्तर याद आता है और हिम्मत बढ़ती है। गुमराह अपनापन फिर से प्रतिष्ठित होता है।

× × ×

दो और घटनाएं याद आती हैं, जिन्हें एक मानी में ऊपर दिये हुए चित्र का पूरक समझा जा सकता है।

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों में आर्य समाज का प्रभाव अत्यंत व्यापक था। स्वामी श्रद्धानंद के बलिदान के उपरांत उस अंचल में हिंदू सांप्रदायिकता ने ऐसा जोर पकड़ा कि अनेक कट्टर राष्ट्रीयतावादी उसकी लपेट में आ गए। अजब दिन थे वे, जब अधूरे जागरण की ऊंघ में हमारा देश कभी एक करवट लेता उग्र राष्ट्रीयता की ओर, कभी दूसरी सांप्रदायिक गौरव की ओर। लेकिन करवटें लेनेवाला देश एक ही था और उन परस्पर-विरोधी झोंकों में भी कुछ ऐसी अनायास निश्छलता थी, जो बाद में दुर्लभ हो गई। आर्य समाज के मंदिर में आगरा के उपदेशक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री कालीचरण 'सत्यार्थ-प्रकाश' के १४वें समुल्लास की व्याख्या करते, जिसमें इस्लाम की अत्यंत स्थूल छीछालेदर होती, लेकिन सभा में एकाध मौलवी आ बैठते और कुछ चुहलबाज़ी भी होती, जिसमें विषाक्त वाण नहीं, चुटकियां-भर होतीं।

शायद इसी किशोर-सुलभ मनोवृत्ति के कारण हमारे नगर का हिंदू और मुसलमान समाज मेरे पिताजी की असांप्रदायिक विचार-पद्धति के बावजूद उनकी इज़्ज़त करता था। एक ओर तो वह आर्यसमाज के अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन. कन्या-शिक्षा और अंधविश्वास-खंडन के सक्रिय समर्थक थे, दूसरी ओर उनकी इस्लाम-विरोधी नीति के निर्भीक आलोचक। हमारे नगर की थियोसोफ़िकल सोसाइटी के उन्नायकों में से वह थे और एनीबेसेंट की रचनाओं और उनके भाषणों पर निछावर थे। इस तरह सर्व-धर्मों के प्रति समदर्शी भावना ने उनके हृदय पर जड़ पकड़ी और हृदय उनकी बुद्धि का पथ-प्रदर्शक था। इस भावना की पुष्टि हुई गांधीजी के चुनौतीपूर्ण संदेश के प्रभाव में। वह संदेश मेरे पिताजी के व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग बन गया और मत-मतांतर के विरोध उनकी दृष्टि में घोर घातक बन गए। हिंदू-मुस्लिम झगड़ों और तनाव में उन्हें गांधीजी के पावन रूप पर आघात लक्षित होता और इसका आभास-मात्र उन्हें उत्तेजित कर देता।

जब की यह चर्चा है, तब मेरी आयु १०-१२ वर्ष की रही होगी। घर में स्नेह का केंद्र था मैं, और पिताजी मुझ पर कभी नाराज़ भी न हुए थे, ताड़न तो दूर की बात रही। नगर में हनुमानजी के मंदिर और उसके निकट एक मस्जिद को लेकर हिंदू-मुसलमानों में मतभेद चल रहा था। रोज़ तरह-तरह की खबरें आतीं; आशंकाएं उठतीं और बिन बरसे बादलों की भांति उड़ जातीं। हम बच्चे सोचते—झगड़ा क्यों नहीं होता? कुछ चमक-दमक तो हो, कुछ समाचार-पत्रों में छपने योग्य चर्चा तो बने! मेरे समाचारों का सूत्र था एक नौकर, जो परियों और शहज़ादियों की कथा सुनाकर मेरे सपनों को जगमग किया करता था। उन दिनों परियां उड़ गई और शहजादियां शायद अपने शहजादों से जा मिलीं। उनका स्थान ले लिया हनुमान मंदिर और मस्जिद के गणों और पीरों ने, और मेरा नौकर मुझे सुनाता—मंदिर के पासवाली दीवार रातों-रात बन गई। हिंदू अखाड़ों में पहलवानों को दूध और बादामों की खूराक दी जा रही है। मुसलमानों ने नई

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बछियाँ बनवाई हैं, लेकिन हिंदुओं के पास भालों की कमी नहीं। फलाने सेठ ने सारा खर्चा उठाने का ज़िम्मा लिया। लेकिन कोतवाल मुसलमानों का आदमी है, देखें, अंग्रेज़ कलक्टर का क्या रुख होता है? और एक दिन मेरा नौकर बोला, "इन मुसलमानों का क्या ठिकाना, बड़े बेईमान होते हैं।" मैंने हां-में-हां भरी, "अरे, हां! ये मुसल्ले-कटल्ले बहुत बुरे होते हैं।"

और सहसा ऊपरवाले कमरे से मेरे पिताजी की आवाज़ सुनाई दी; उस आवाज़ में कड़क थी और था शरीर और चित्त को झकझोरनेवाला आक्रोश! पहले कभी ऐसी आवाज़ मेरे लिए उनके कंठ से सुनी न थी। लगा कि वह मेरे ऊपर बरस ही पड़ेंगे। गुस्सा उनका विकट होता था, पर मेरी समझ ही में न आया कि क्यों वह नाराज़ हो रहे हैं। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ था, लेकिन न जाने क्यों भयभीत नहीं। बोले, "तुमको अगर कोई क़ाफ़िर कहे, तो कैसा लगेगा? तुमने ये बेहूदे शब्द 'मुसल्ले-कटल्ले' कहां से सीखे? खबरदार, जो मुसलमानों के लिए कोई अपशब्द इस्तेमाल किया! क्या वे हिंदुओं की तरह मनुष्य नहीं होते? तुम समझते हो कि इन झगड़ों में उन्हीं का क़सूर है? लेकिन हिंदू अपने आगे तो शीशा रखें और फिर लोग यह क्यों नहीं समझते कि इन झगड़ों के पीछे अंग्रेजों की चाल है! तुम्हारी ज़बान पर ऐसी गाली आई ही क्यों? क्या हम लोगों के मुसलमान दोस्त नहीं?"—इत्यादि, इत्यादि।

उन दिनों मैं न 'मुसल्ले-कटल्ले' शब्द का आशय समझता था और न 'क़ाफ़िर' का। लेकिन पिताजी की उग्र मूर्ति और उस आवेशपूर्ण वाणी के पीछे मुझे उस समय भी इतने गहरे और सच्चे विश्वास एवं आस्था की झलक मिली कि अविकसित बुद्धि को लांघकर अंतस्तल में एक महिमापूर्ण, समदर्शी सिद्धांत ने घर कर लिया। आज तक उनके द्वारा की गई वह प्रतारणा और उनकी वह रुष्ट भंगिमा मेरे मन पर अंकित है, इसलिए नहीं कि उस क्रोध ने मुझे सहमा दिया, बल्कि इसलिए कि उस रोष के माध्यम में मुझे एक तेजोमय संदेश मिला।

× × ×

कई वर्ष बाद की बात है, शायद सन् १९३३ की, जब मैं कॉलेज में पढ़ने के लिए प्रयाग चला गया था। छुट्टियों में मैं और मेरे मित्र नरेंद्र शर्मा (हिंदी के विख्यात कवि) घर आये हुए थे और वह हमारे ही यहां ठहरे हुए थे। उनके प्रति पिताजी का अटूट स्नेह था उनके शिष्य और मेरे बंधु होने के नाते। स्कूल में किसी उत्सव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सिलसिले में नाटक हो रहा था 'शाहजहां'। हम लोग स्कूल के छात्र थे नहीं और अपने कमरे में बैठे हुए गप लड़ा रहे थे। हठात् एक लड़का आया और बोला कि नाटक हो नहीं पा रहा है, क्योंकि शहर के मुसलमान विरोध कर रहे हैं। उसमें औरंगज़ेब के विषय में कुछ अप्रिय शब्द हैं। जो मुसलमान लड़के नाटक में भाग ले रहे थे, वे ग़ायब हो गए। नाटक हो तो कैसे ?

नरेंद्र और मैं स्कूल के पुराने छात्रों में सिद्धहस्त अभिनेता माने जाते थे। हम लोगों ने समझा कि यह स्कूल की इज़्ज़त का प्रश्न है। नाटक हो ही न, इसमें तो हमारी पुरानी संस्था की भद्द हो जाएगी। बस, हम लोगों ने कहा कि जो दो मुसलमान छात्र भाग गए हैं, उनके स्थान पर हम दोनों काम करेंगे। 'प्रांपटिंग' से काम चल जाएगा। यह भी कोई बात है ! हम लोगों के होते हुए स्कूल की यों मानहानि हो जाए !

जोश में आकर हम लोगों ने नाटक की नैया पार लगाने के लिए कमर कस ली। पहले से भवन में समाचार भेज दिया कि कोई फ़िक्र की बात नहीं, हम लोग आ रहे हैं। थोड़ी देर बाद चले। लेकिन हॉल में जाकर दूसरा ही दृश्य देखा। स्टेज पर ड्राप सीन पड़ा हुआ था और पिताजी खड़े हुए थे। उन्होंने ऐलान कर दिया कि नाटक नहीं होगा, क्योंकि मुसलमान भाई उसे पसंद नहीं करते। एक कोलाहल दर्शकों में उठा, विरोध की आवाज़ें भी सुन पड़ीं, कुछ खलबली, कुछ बेचैनी; लेकिन पिताजी अडिग थे। नपे-तुले और स्पष्ट शब्दों में उन्होंने दुहराया कि नाटक नहीं होगा, और ऐसा खरापन और तेजस्विता थी उनकी मुद्रा और स्वर में कि सांझ की धूल की भांति कोलाहल कम होता चला गया, दर्शक वापस जाने लगे। मेरी और नरेंद्र की ओर उन्होंने जो दृष्टि डाली, उसमें मर्मस्पर्शिनी प्रताड़ना थी। बाद में उन्होंने बताया कि स्कूल की इज्ज़त इसमें नहीं है कि स्कूल के एक महत्त्वपूर्ण वर्ग की इच्छा के विरुद्ध, उनकी भावनाओं को ठोकर लगाते हुए उत्सव किया जाए। इतिहास में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनकी चर्चा अनुसंधान और अध्ययन के स्तर पर ही होनी चाहिए, प्रदर्शन के द्वारा नहीं। प्रदर्शन ऐसे ही पहलुओं का हो, जिनके द्वारा आधुनिक समाज का कल्याण हो। और फिर भारतीय इतिहास में सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति के विकास का दिग्दर्शन उन्होंने हम दोनों को कराया। भारतीय इतिहास की वे झांकियां मेरी और शायद नरेंद्र की भी विचार-धारा को स्थिर करने में सहायक हुईं। अकसर भोजनोपरांत वह हम लोगों के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ बैठ जाते और ऐतिहासिक घटनाओं की तह में जो प्रवृत्तियां गतिशील होती हैं, उनका स्पष्टीकरण करते। लेकिन वह 'अध्यापन'-शैली प्रभावोत्पादक इसलिए अधिक होती थी कि वह आदर्शों को कोरी चर्चा का विषय नहीं मानते थे। दृष्टांत अपने आचरण द्वारा ही उपस्थित कर देते थे।

× × ×

अल्लादिया स्कूल का सक्का (मशक से पानी छिड़कनेवाला नौकर) था। ग़रीब मुसलमान, मालिक के प्रति श्रद्धावान, काम में मुस्तैद। उसकी मशक, जो कभी-कभी सजीव जान पड़ती थी, उसका उलटी हुई मोहरियों का पाजामा और उसके घर में एक जंगली फलों का वृक्ष—ये मेरे बचपन की स्मृति में बिखरे हुए कुछ रंगीन कण हैं। उसकी पहली बीवी मर गई और बड़ी कोशिशों के बाद दूसरी शादी तय हुई। शादी का निमंत्रण हमारे यहां आया। सुना कि बड़ी स्वादिष्ट सेवई बनी है और लड्डू भी! जैसा पहले लिख चुका हूं, हमारे नगर में आचार-व्यवहार में संकीर्ण प्रवृत्ति के लोगों की कमी न थी। लेकिन शादी के दिन देखा कि पिताजी अल्लादिया के यहां जाने के लिए तैयार थे। मैं भी साथ में गया। अल्लादिया स्वयं अचरज में था—हेडमास्टर साहब स्वयं उसकी बारात में शामिल होंगे, इसकी उसने कल्पना भी न की थी। शहर के धनी-मानी और उच्च वर्ग के लोग हेडमास्टर साहब के इस खब्त से आज़िज़ थे। वह बारात भी शहरवालों के लिए चलती-फिरती प्रदर्शनी बन गई। और जब पिताजी ने सेवई और शरबत की बानगी ली, तब सनसनी फैल गई। फूलों के सेहरे के नीचे अल्लादिया गद्गद् हो रहा था।

ज़िंदगी-भर ऐसे प्रयोगों में ही उन्होंने वह अमृत-रस पाया, जो काया के कष्टों और संघर्ष की आंधियों में भी उन्हें उल्लास देता था। मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व निजी देख-भाल के लिए उन्होंने एक चमार लडके को नौकर रखा। वही उनके कपड़े इत्यादि रखता, पलंग ठीक करता और कभी-कभी दफ़्तर में नाश्ता इत्यादि लेकर पहुँचता। उस समय तक हरिजन-आंदोलन ने एक सर्व-स्वीकृत रूप धारण कर लिया था, फिर भी आदर्शों को चरितार्थ करने की हिम्मत कम लोगों में थी।

× × ×

आदर्शों को चरितार्थ करना—बड़ा कंटकाकीर्ण पथ था! मेरे पिता के निजी कमरे में बोर्ड पर कवयित्री लूसिया ट्रेंट की दो पंक्तियां मोटे अक्षरों में अंकित थीं;

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"Far better to dream, dare, fail and fall. Than never to dream and dare at all.[1]"

किंतु इस रास्ते पर चलने वाले को किस तरह मर-मिटना होता है, यह मेरे पिता अपने अनुभव से भली-भांति जानते थे। प्रतिवर्ष अंतिम कक्षा के छात्रों की विदाई में हमारे स्कूल में एक सभा होती थी। उसके अंत में मेरे पिता जानेवाले छात्रों को एक संदेश देते थे। संदेश में बंकिम बाबू के उपन्यास 'आनंदमठ' की एक घटना का उल्लेख प्रायः हुआ करता था; बलिदान-पथ का पथिक निविड़ जंगल में चला जा रहा है, गहन वन, आक्रांत शून्य। आवाज़ आती है, "क्या देगा मां के चरणों में?" पथिक उत्तर देता है, "अपने प्राण!" लेकिन शून्य को चीरती हुई आवाज़ आती है, "प्राण नहीं, नादान! मां मांगती है—जीते-जी मरण।"

जीते-जी मरना! इस संदेश को देखते हुए जो दीप्ति मेरे पिता के नेत्रों में दीखती थी, वह उनके सच्चे और कष्टपूर्ण अनुभव की देन थी। आदर्शों का पथ तो यों ही विघ्नपूर्ण और आपद्‌ग्रस्त होता है, किंतु मेरे पिता के लिए जीते-जी मरण इसलिए भी था, क्योंकि उनका स्वभाव मानवीय कोमलता और सहानुभूति से ओतप्रोत था। एक ओर तो आदर्शों की उपलब्धि के लिए एकाग्रचित्त और कठोर हृदय होने का आग्रह और दूसरी ओर दया और करुणा से द्रवित होनेवाली मनोस्थली! इन दोनों खिंचावों के कारण उनका जीवन प्रायः जीते-जी मरण हो जाता था। पर करुणा और भावुकता ही उनके संबल भी थे। उनकी डायरी के पन्नों में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जब अपने छात्रों और संबंधियों की असामयिक मृत्यु पर वेदना फूट पड़ी थी। लाजपतराय के देहावसान का समाचार स्कूल को सुनाते-सुनाते रो पड़े थे। एक छात्र को पुलिस ने किसी जुर्म पर हिरासत में ले लिया, फ़ौरन अपनी जेब से दो सौ की कैश ज़मानत दी। न जाने कितने छात्रों और अध्यापकों को गुप्त सहायता दिया करते थे। कोई पुराना छात्र मिलने आता, तो भाव-विह्वल हो जाते। २४ दिसंबर को पुराने छात्रों का पुनर्मिलन-समारोह हुआ करता था। दूर-दूर से पुराने छात्र आते, अनिर्वचनीय दृश्य होता था वह, जब मेरे पिता हरेक से अलग-अलग मिलते और अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से उन्हें

---

१. सपने देखना, साहसपूर्ण कर्म करना, असफल होना और गिर पड़ना—यह सब कहीं अच्छा है, बजाए इसके कि न तो सपने ही देखे जाएं और न कभी आगे बढ़ने की हिम्मत ही की जाए

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library Gurukul Kangri

आप्लावित कर देते थे। सौजन्य, सौहार्द और स्नेह की उन फुहारों में अनेक भीगे। जिसने कुछ मांगा, उसे 'न' कभी किया नहीं। जो निकट आया, उसे सहज ही विश्वासपात्र भी मान लिया। कई लोगों ने उन्हें धोखा भी दिया, पर मानव मात्र में आस्था का दामन मेरे पिता ने कभी न छोड़ा। एक पत्र में लिखा उन्होंने :

"I have always been a trusting man and though sometimes erratic in this trust, I have depended on this inborn nature of mine to come ultimately to my help. I have had crises in my life, as everybody does have, but this faith in me – the faith that I must trust not withstanding what the man trusted does in return, has always stood me in good stead."[1]

ऐसे थे मेरे पिता। किंतु कौन संतान अपने पिता को आंक सकी है? हम—उनके पुत्र और पुत्रियां—कभी उन्हें गहराई से समझ न सके और न उन्हें सुख दे सके। १९४३ में सुदूर उड़ीसा के संबलपुर नगर में (जहाँ मैं उन दिनों तैनात था) जब ५४ वर्ष की आयु में उनका देहांत हुआ, तो मन टूक टूक हो गया। घर आकर संतप्त परिवार के साथ अनूपशहर में गंगा में अस्थि-प्रवाह के बाद घाट पर बैठा हुआ था। एक वानप्रस्थ सज्जन गंगास्नान के लिए आये। हमें देखकर पूछताछ की। बोले, "मैं तो माथुरजी को भली-भांति जानता था। तुम उनके लिए शोक करते हो! किंतु, भाई, उन्होंने तो सच्चे अर्थ में सुख पाया, जो बहुत कम को मिलता है।" उस समय वह बात ठीक नहीं समझ सका। किंतु एक-डेढ़ वर्ष बाद उनके पुराने छात्रों ने उनके कुछ अवशिष्ट चिह्नों के ऊपर उनकी प्रतिमा स्थापित की। जब चार पुराने छात्र उस प्रतिमा का अनावरण कर रहे थे, तब उनकी और संतान-तुल्य अन्य पुराने छात्रों की आंखों में मैंने अपने पिता की वह मूर्ति देखी, जो उस संगमरमर की प्रतिमा से कहीं अधिक स्पष्ट थी। तभी उन वानप्रस्थी सज्जन के वचन याद आए। जो इतनों के मानस में बस सका, उनके आर्द्र अर्घ्य को पा सका, क्या वह लोकोत्तर सुख का भागी नहीं था?

---

१. मैं हमेशा एक यकीनपरस्त आदमी रहा हूं और यद्यपि कभी-कभी यह यकीन बेतुका हो जाता था, तथापि अपनी इस जन्मजात प्रवृत्ति का ही आसरा अंततः मुझे मिल जाता था। मेरे जीवन में संकट आए, जैसा कि हरेक के साथ होता है, लेकिन वह जो मेरे अंदर आस्था थी—आस्था यह कि मुझे दूसरों पर विश्वास करना चाहिए, चाहे विश्वासपात्र व्यक्ति बदले में कुछ भी करे—इस आस्था ने हमेशा मेरा साथ दिया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar